मैं क्या हूँ ?

- श्रीराम शर्मा आचार्य

❁ वन्दे वेद मातरम् ❁

मैं क्या हूँ ?

अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप का
बोध कराने वाली अपूर्व पुस्तक

लेखक—

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक—

युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि
मथुरा
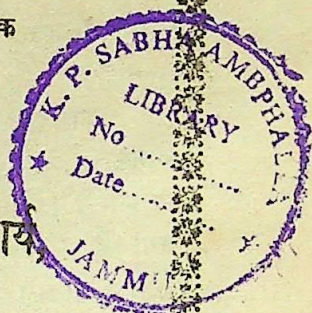
अष्टम संस्करण १९९३ मूल्य : ३)०० रु.

भूमिका ।

इस संसार में जानने योग्य अनेक बातें हैं। विद्या के अनेकों क्षेत्र हैं, खोज के लिए, जानकारी प्राप्त करने के लिए, अमित मार्ग हैं। अनेकों विज्ञान ऐसे हैं जिनकी बहुत कुछ जानकारी, मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। क्यों? कैसे? कहां? कब? के प्रश्न हर क्षेत्र में वह फेंकता है। इस जिज्ञासा भाव के कारण ही मनुष्य अब तक इतना ज्ञान सम्पन्न और साधन सम्पन्न बना है। सचमुच ज्ञान ही जीवन का प्रकाश स्तम्भ है।

जानकारी की अनेकों वस्तुओं में से "अपने आपकी जानकारी" सर्वोपरि है। हम बाहरी अनेकों बातों को जानते हैं या जानने का प्रयत्न करते हैं पर यह भूल जाते हैं कि हम स्वयं क्या हैं? अपने आपको ज्ञान प्राप्त किये बिना जीवन क्रम बड़ा डांवाडोल अनिश्चित और कंटकाकीर्ण हो जाता है। अपने वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होने के कारण मनुष्य न सोचने लायक बातें सोचता है और न करने लायक कार्य करता है। सच्ची सुख शान्ति का राजमार्ग एक ही है, और वह है—"आत्म ज्ञान।"

इस पुस्तक में आत्म ज्ञान की शिक्षा है। "मैं क्या हूँ?" इस प्रश्न का उत्तर शब्दों द्वारा नहीं वरन् साधना द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है। यह पुस्तक अध्यात्म मार्ग के पथिकों का उपयोगी पथ प्रदर्शन करेगी ऐसी हमें आशा है।

—श्रीराम शर्मा, आचार्य।

मैं क्या हूँ ?

पहला अध्याय ।

कोऽहं काचमे शक्ति, कः देश व्यय आगतौ ।
काकाल कानि मित्राणि, एतच्चिन्त्य मुहुर्मुहुः ॥

मैं क्या ? मेरी क्या शक्ति है ? मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कर्त्तव्य है ? आदि बातों का बराबर विचार करो । सभी विचारकों ने ज्ञान का एक ही स्वरूप बताया है वह है "आत्म बोध" ! अपने सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। जीव असल में ईश्वर ही है। विचारों से बँध कर वह बुरे रूप में दिखाई देता है परन्तु उसके भीतर अमूल्य निधि भरी हुई है। शक्ति का वह केन्द्र है और इतना है जिसकी हम कल्पनाभी नहीं कर सकते। सारी कठिनाइयां, सारे दुख इसी बात के हैं कि हम अपने को नहीं जानते। जब आत्म स्वरूप को समझ जाते हैं तब किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं रहता। आत्म स्वरूप का अनुभव करने पर वह कहता है—

"नाहं जातो जन्म मृत्यु कुतो मे, नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे ।
नाहं चित्तं शोक मोहौ कुतो मे, नाहं कर्ता बंध मोक्षौ कुतो मे ॥"

मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, फिर मेरा जन्म मृत्यु कैसे ? मैं चित्त नहीं हूँ फिर मुझे शोक मोह कैसे ? मैं कर्ता हूँ फिर मेरा बन्ध मोक्ष कैसे

जब वह समझ जाता है कि मैं क्या हूँ ? तब उसे वास्तविक ज्ञान हो जाता है और सब पदार्थों का रूप ठीक से देख कर उसका उचित उपयोग कर सकता है। चाहे किसी दृष्टि से देखा जाय आत्मज्ञान ही सर्व सुलभ और सर्वोच्चज्ञान ठहरता है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि आप कौन हैं ? तो वह अपने वर्ण, कुल, व्यवसाय, पद या सम्प्रदाय का परिचय देगा। ब्राह्मण हूँ, अग्रवाल हूँ, बजाज हूँ, तहसीलदार हूँ, वैष्णव हूँ, आदि उत्तर होंगे। अधिक पूछने पर अपने निवास स्थान, वंश, व्यवसाय आदि का अधिकाधिक विस्तृत परिचय देगा। प्रश्न के उत्तर के लिये ही यह सब वर्णन हो सो नहीं, उत्तर देने वाला यथार्थ में अपने को वैसा ही मानता है। शरीर भाव में मनुष्य इतना तल्लीन हो गया है कि अपने आपको वह शरीर ही समझने लगा है।

वंश, वर्ण, व्यवसाय या पद शरीर का होता है। शरीर मनुष्य का एक परिधान, औजार है। परन्तु भ्रम और अज्ञान के कारण मनुष्य अपने आपको शरीर ही मान बैठता है और शरीर के स्वार्थ तथा अपने स्वार्थ को एक कर लेता है। इसी गड़बड़ी में जीवन अनेक अशान्तियों, चिन्ताओं और व्यथाओं का घर बन जाता है।

मनुष्य शरीर में रहता है यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि वह शरीर नहीं है। जब प्राण निकल जाते हैं तो शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है, उसमें से कोई वस्तु घटती नहीं तो भी वह मृत शरीर बेकाम हो जाता है। उसे थोड़ी देर रखा रहने दिया जाय तो लाश सड़ने लगती है, दुर्गन्ध उत्पन्न होती है और कृमि पड़ जाते हैं। देह वही है, ज्यों की त्यों है पर प्राण निकलते ही उसकी दुर्दशा होने लगती है। इससे प्रकट है कि

मनुष्य शरीर में निवास तो करता है पर वस्तुतः वह शरीर से भिन्न है। इस भिन्न सत्ता को आत्मा कहते हैं। वास्तव में यही मनुष्य है। मैं क्या हूँ ? इसका सही उत्तर यह है कि—मैं आत्मा हूँ।

शरीर और आत्मा की प्रथकता की बात हम सब लोगों ने सुन रखी है। सिद्धान्ततः हम सब उसे मानते भी हैं। शायद कोई ऐसा विरोध करे कि देह से जीव प्रथक नहीं है, इस प्रथकता की मान्यता सिद्धान्त रूप से जैसे सर्व साधारण को स्वीकार है, वैसे ही व्यवहार में सभी लोग उसे अस्वीकार करते हैं लोगों के व्यवहार ऐसे होते हैं मानो वे वस्तुतः शरीर ही हैं। शरीर के हानि लाभ ही उनके हानि लाभ हैं। किसी व्यक्ति को बारीकी के साथ निरीक्षण किया जाय और देखा जाय कि वह क्या सोचता है ? क्या कहता है ? और क्या करता है ? तो पता चलेगा कि वह शरीर के बारे में सोचता है उसीके सम्बन्ध में सम्भाषण करता है और जो कुछ करता है, शरीर के लिए करता है। शरीर को ही उसने 'मैं', मान रखा है।

शरीर आत्मा का मन्दिर है। उसकी स्वस्थता, स्वच्छता और सुविधा के लिए कार्य करना उचित एवं आवश्यक है, परन्तु यह अहितकर है कि केवल मात्र शरीर के ही बारे में सोचा जाय, उसे अपना स्वरूप मान लिया जाय और अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया जाय। अपने आपको शरीर मान लेने के कारण शरीर के हानि लाभों को भी अपने हानि लाभ मान लेता है और अपने वास्तविक हितों को भूल जाता है। यह भूल भुलैया का खेल जीवन को बड़ा कर्कश और नीरस बना देता है।

आत्मा शरीर से पृथक है। शरीर और आत्मा के स्वार्थ भी पृथक हैं। शरीर के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व इन्द्रियां करती हैं।

दस इन्द्रियां और ग्यारहवां मन यह सदा ही शारीरिक दृष्टिकोण से सोचते और कार्य करते हैं। स्वादिष्ट भोजन, बढ़िया वस्त्र, सुन्दर सुन्दर मनोहर दृश्य, मधुर श्रवण, रूपवती स्त्री, नानाप्रकार के भोग विलास यह इन्द्रिय की आकांक्षा हैं। ऊँचा पद, विपुल धन, दूर दूर तक यश, रोब, दौब, यह सब मन की आकांक्षाएँ हैं। इन्हीं इच्छाओं को तृप्त करने में प्रायः सारा जीवन लगता है। जब यह इच्छाएँ अधिक उग्र होजाती हैं तो मनुष्य उनकी किसी भी प्रकार से तृप्ति करने की ठान लेता है और उचित अनुचित का विचार छोड़कर जैसे भी बने वैसे स्वार्थ साधने की नीति पर उतर आता है। यही समस्त पापों का मूल केन्द्र बिन्दु है।

शरीर मात्र में जागृत रहने वाला मनुष्य यदि आहार, निद्रा, भय, मैथुन के साधारण कार्यक्रम पर चलता रहे तो भी उस पशुवत जीवन में निरर्थकता ही है सार्थकता कुछ नहीं। यदि उसकी इच्छाएँ जरा अधिक उग्र या आतुर हो जांय तब तो समझिये कि वह पूरा पाप पुञ्ज शैतान ही बन जाता है, अनीति पूर्वक स्वार्थ साधने में उसे कुछ हिचक नहीं होती। इस दृष्टिकोण के व्यक्ति न तो स्वयं सुखी रहते हैं और न दूसरों को सुखी रहने देते हैं। काम और लोभ ऐसे तत्व हैं कि कितना ही अधिक से अधिक भोग क्यों न मिले वे तृप्त नहीं होते, जितना ही मिलता है उतनी ही तृष्णा के साथ साथ अशान्ति, चिन्ता, कामना तथा व्याकुलता भी दिन दूनी और रात चोगुनी होती चलती है। इन भोगों में जितना सुख मिलता है उससे अनेक गुना दुख भी साथ ही साथ उत्पन्न होता चलता है, इस प्रकार शरीर भावी दृष्टिकोण-मनुष्य को, पाप, ताप, तृष्णा तथा अशान्ति की ओर घसीट ले जाता है।

जीवन की वास्तविक सफलता और समृद्धि आत्मभाव में जागृत रहने में है। जब मनुष्य अपने को आत्मा अनुभव करने लगता है तो उसकी इच्छा, आकांक्षा और अभिरुचि उन्हीं कामों की ओर मुड़ जाती है जिनसे आध्यात्मिक सुख मिलता है। हम देखते हैं कि चोरी, हिंसा, व्यभिचार, छल एवं अनीति भरे हुए दुष्कर्म करते हुए अन्तःकरण में एक प्रकार का कुहराम मच जाता है, पाप करते हुये पांव कांपते हैं और कलेजा धड़कता है इसका तात्पर्य यह है कि इन कामों को आत्मा नापसन्द करता है। यह उसकी रुचि एवं स्वार्थ के विपरीत है। किन्तु जब मनुष्य परोपकार, परमार्थ, सेवा, सहायता, दान, उदारता, त्याग, तप से भरे हुए पुण्य कर्म करता है तो हृदय के भीतरी कोने में बड़ा ही सन्तोष, हलकापन, आनन्द एवं उल्लास उठता है। इसका अर्थ है कि यह पुण्य कर्म आत्मा के स्वार्थ के अनुकूल है वह ऐसे ही कार्यों को पसन्द करता है। आत्मा की आवाज सुनने वाले और उसीकी आवाज पर चलने वाले सदा पुण्य कर्मी होते हैं। पाप की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती इसलिए वैसे काम उनसे बन भी नहीं पड़ते।

आत्मा को तत्कालीन सुख सत्कर्मों में आता है। शरीर की मृत्यु होने के उपरान्त जीव की सद्गति मिलने में भी हेतु सत्कर्म ही हैं। लोक और परलोक में आत्मिक सुख शान्ति सत्कर्मों के ऊपर ही निर्भर है। इसलिए आत्मा का स्वार्थ पुण्य प्रयोजन में है। शरीर का स्वार्थ इसके विपरीत है, इन्द्रियां और मन संसार के भोगों को अधिकाधिक मात्रा में चाहते हैं। इस कार्य प्रणाली को अपनाने से मनुष्य नाशवान शरीर की इच्छाएँ पूर्ण करने में जीवन को खर्च करता है और पापों का भार इकट्ठा करता रहता है। इससे शरीर और मन का अभिरञ्जन तो होता

है पर आत्मा को इस लोक और परलोक में कष्ट उठाना पड़ता है। आत्मा के स्वार्थ के सत्कर्मों में शरीर को भी कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। तप, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, सेवा, दान आदि के कार्यों में शरीर को कसा जाता है, तब ये सत्कर्म सधते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर का स्वार्थ और आत्मा का स्वार्थ आपस में मेल नहीं खाता, एक के सुख में दूसरे का दुःख होता है। दोनों के स्वार्थ आपस में एक दूसरे से विरोधी हैं।

इन दो विरोधी तत्वों में से हमें एक को चुनना होता है। जो व्यक्ति अपने आपको शरीर समझते हैं वे आत्मा के सुख की परवा नहीं करते और शरीर सुख के लिए भौतिक सम्पदाएँ, भोग सामिग्रियां एकत्रित करने में ही सारा जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे लोगों का जीवन पशुवत पाप रूप, निकृष्ट प्रकार का हो जाता है। धर्म, ईश्वर, सदाचार, परलोक, पुण्य, परमार्थ की चर्चा वे भलेही करें पर यथार्थ में उनका पुण्य परलोक स्वार्थ साधन की ही चारदीवारी के अन्दर होता है। यश के लिये, अपने अहंकार को तृप्त करने के लिये, दूसरों पर अपना सिक्का जमाने के लिये, वे धर्म का कभी कभी आश्रय ले लेते हैं। वैसे उनकी मन स्थिति सदैव शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ साधनों में ही निमग्न रहती है। परन्तु जब मनुष्य आत्मा के स्वार्थ को स्वीकार कर लेता है तो उसकी अवस्था विलक्षण एवं विपरीत हो जाती है। भोग और ऐश्वर्य के प्रयत्न उसे बालकों की खिलवाड़ जैसे प्रतीत होते हैं। शरीर जो वास्तव में आत्मा का एक वस्त्र या औजार मात्र है इतना महत्वपूर्ण उसे दृष्टिगोचर नहीं होता कि उसीके ऐश आराम में जीवन जैसे बहुमूल्य तत्व को बर्बाद कर दिया जाय। आत्म भाव में जगा हुआ मनुष्य अपने आपको आत्मा मानता है और आत्म कल्याण के, आत्म सुख के कार्यों में ही

अभिरुचि रखता और प्रयत्नशील रहता है। उसे धर्म-संचय के कार्यों में अपने समय को एक एक घड़ी लगाने की लगन लगी रहती है। इस प्रकार शरीर भावी व्यक्ति का जीवन पाप की ओर, पशुत्व की ओर चलता है और आत्मभावी व्यक्ति का जीवन-प्रवाह पुण्य की ओर, देवत्व की ओर प्रवाहित होता है। यह सर्व विदित है कि इस लोक और परलोक में पाप का परिणाम दुखदाई और पुण्य का परिणाम सुखदाई होता है। अपने को आत्मा समझने वाले व्यक्ति सदा आनन्दमयी स्थिति का रसास्वादन करते हैं।

जिसे आत्मज्ञान होजाता है वह छोटी घटनाओं से अत्यधिक प्रभावित, उत्तेजित या अशान्त नहीं होता। लाभ, हानि, जीवन, मरण, विरह, बिछोह, मान, अपमान, लोभ, क्रोध, काम, भोग, राग, द्वेष की कोई घटना उसे अत्यधिक क्षुभित नहीं करती, क्योंकि वह जानता है कि यह सब परिवर्तनशील संसार में नित्य का स्वाभाविक क्रम है। मनोवांच्छित वस्तु या स्थिति सदा प्राप्त नहीं होती, कालचक्र के परिवर्तन के साथ साथ अनिच्छित घटनाऐं भी घटित होती रहती हैं, इसलिए उन परिवर्तनों को एक मनोरञ्जन की तरह, नाट्य रङ्ग-मंच की तरह, कौतूहल और विनोद की तरह देखता है। किसी अनिच्छित स्थिति को सामने आया देखकर वह बेचैन नहीं होता। आत्मज्ञानी उन मानसिक कष्टों से सहज ही बचा रहता है जिनमें से शरीर भावी लोग सदा व्यथित और बेचैन रहते हैं और कभी कभी तो अधिक उत्तेजित होकर आत्महत्या जैसे दुखद परिणाम उपस्थित कर लेते हैं।

जीवन को शुद्ध, सरल, स्वाभाविक एवं पुण्य प्रतिष्ठा से भरा पूरा बनाने का राजमार्ग यह है कि हम अपने आपको शरीर

भाव से ऊँचा उठावें और आत्म भाव में जागृत हों। इससे सच्चा सुख, शान्ति और जीवन लक्ष की प्राप्ति होती है। आध्यात्म विद्या के आचार्यों ने इस तथ्य को भली प्रकार अनुभव किया है और अपनी साधनाओं में सर्व प्रथम स्थान आत्मज्ञान को दिया है। मैं क्या हूँ? इस प्रश्न पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'मैं आत्मा हूँ।' यह भाव जितना ही सुदृढ़ होता जाता है उतने ही उसके विचार और कार्य आध्यात्मिक एवं पुण्य रूप होते जाते हैं। इस पुस्तक में ऐसी ही साधनाऐं निहित हैं जिनके द्वारा हम अपने आत्म रूप को पहिचानें और हृदयंगम करें। आत्मज्ञान हो जाने पर वह सच्चा मार्ग मिलता है जिस पर चलकर हम जीवन लक्ष को—परमपद को—आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

आत्म स्वरूप को पहिचानने से मनुष्य समझ जाता है कि मैं स्थूल शरीर वा सूक्ष्म शरीर नहीं हूँ। यह मेरे कपड़े हैं। मानसिक चेतनाऐं भी मेरे उपकरण मात्र हैं। इनसे मैं बँधा हुआ नहीं हूँ। ठीक बात को समझते ही सारा भ्रम दूर हो जाता है और बन्दर मुट्ठी का अनाज छोड़ देता है। आपने यह किस्सा सुना होगा कि एक छोटे मुँह के बर्तन में अनाज जमा था। बन्दर ने उसे लेने के लिए हाथ डाला और मुट्ठी में भर कर अनाज निकालना चाहा। छोटा मुँह होने के कारण वह निकाल न सका बेचारा पड़ा पड़ा चीखता रहा कि अनाज ने मेरा हाथ पकड़ लिया है पर ज्योंही उसे असलियत का बोध हुआ कि मैंने ही मुट्ठी बाँध रखी है इसे छोड़ूँ तो सही। जैसे ही उसने इसे छोड़ा कि अनाज ने बन्दर को छोड़ दिया। काम क्रोधादि हमें इसलिये सताते हैं कि उनकी दासता हम स्वीकार करते हैं। जिस दिन हम विद्रोह का झंडा खड़ा कर देंगे, भ्रम

अपने बिल में घुस जायगा। भेड़ों में पला हुआ शेर का बच्चा अपने को भेड़ समझता था। परन्तु जब उसने पानी में अपनी तस्वीर देखी तो पाया कि मैं भेड़ नहीं शेर हूँ। आत्म-स्वरूप का बोध होते ही उसका सारा भेड़पन क्षणमात्र में चला गया। आत्म-दर्शन की महत्ता ऐसी ही है जिसने इसे जाना उसने उन सब दुःख दरिद्रों से छुटकारा पा लिया जिनके मारे वह हर घड़ी हाय-हाय किया करता था।

जानने योग्य इस संसार में अनेक वस्तुएं हैं पर उन सबमें प्रधान अपने आपको जानना है। जिसने अपने को जान लिया उसने जीवन का रहस्य समझ लिया। भौतिक विज्ञान के अन्वेषकों ने अनेक आश्चर्यजनक आविष्कार किये हैं। प्रकृति के अन्तराल में छिपी हुई विद्युत शक्ति, ईश्वर शक्ति, परमाणु शक्ति आदि को ढूँढ़ निकाला है। आध्यात्म जगत के महान अन्वेषकों ने जीवन-सिन्धु का मन्थन करके 'आत्मा' रूपी अमृत उपलब्ध किया है। इस आत्मा को जानने वाला सच्चा ज्ञानी होजाता है और इसे प्राप्त करने वाला विश्व-विजयी मायातीत कहा जाता है। इसलिये हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आपको जाने। मैं क्या हूँ, इस प्रश्न को अपने आपसे पूछे और विचार, चिन्तन तथा मननपूर्वक उसका सही उत्तर प्राप्त करे। अपना ठीक रूप मालूम होजाने पर, हम अपने वास्तविक हित अहित को समझ सकते हैं। विषयानुरागी अवस्था में जीव जिन बातों को लाभ समझता है, उनके लिए लालायित रहता है वे लाभ आत्मानुरक्त होने पर तुच्छ एवं हानिकारक प्रतीत होने लगते हैं और माया लिप्त जीव जिन बातों से दूर भागता है उसमें आत्म-परायण का रस आने लगता है। आत्म-साधन के पथ पर अग्रसर होने वाले पथिक की भीतरी आँखें खुल जाती हैं और वह जीवन

के महत्वपूर्ण रहस्य को समझकर शाश्वत सत्य की ओर तेजी के कदम बढ़ाता चला जाता है।

अनेक साधक आध्यात्म-पथ पर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं पर उन्हें केवल एकाङ्गी और आंशिक साधन करने के तरीके ही बताये जाते हैं। खुमारी उतारना तो वह है जिस दशा में मनुष्य अपने रूप को भली भाँति पहचान सके। जिस इलाज से सिर्फ हाथ पैर पटकना ही बन्द होता है या आँखों की सुर्खी ही मिटती हो वह पूरा इलाज नहीं है। यज्ञ, तप, दान, व्रत, अनुष्ठान, जप आदि साधन लाभप्रद हैं, इनकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता। परन्तु यह वास्तविकता नहीं है। इससे पवित्रता बढ़ती है, सतोगुण की वृद्धि होती है, पुन्य बढ़ता है किन्तु वह चेतना प्राप्त नहीं होती जिसके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविक रूप जाना जा सकता है और सारा भ्रम जाल कट जाता है। इस पुस्तक में हमारा उद्देश्य साधक को आत्म-ज्ञान की चेतना में जगा देने का है क्योंकि हम समझते हैं कि मुक्ति के लिये इससे बढ़कर सरल एवं निश्चित मार्ग हो नहीं सकता। जिसने आत्म स्वरूप का अनुभव कर लिया, सद्गुण उसके दास होजाते हैं और दुर्गुणों का पता भी नहीं लगता कि वे कहाँ चले गये।

आत्म-दर्शन का यह अनुष्ठान साधकों को ऊँचा उठावेगा इस अभ्यास के सहारे वे उस स्थान से ऊँचे उठ जायेंगे जहाँ कि पहले खड़े थे। इस उच्च शिखर पर खड़े होकर वे देखेंगे कि दुनियाँ बहुत बड़ी है। मेरा भार बहुत बड़ा है। मेरा राज्य बहुत दूर तक फैला हुआ है। जितनी चिन्ता अब तक थी उससे अधिक अब मुझे करनी है वह सोचता है कि मैं पहले जितनी वस्तुओं को देखता था, उससे अधिक चीजें मेरी हैं। अब वह और ऊँची चोटी पर चढ़ता है कि मेरे पास कहीं इससे

भी अधिक पूँजी तो नहीं है? जैसे २ ऊँचा चढ़ता है वैसे ही वैसे उसे अपनी वस्तुऐं अधिकाधिक प्रतीत होती जाती हैं और अन्त में सर्वोच्च शिखिर पर पहुँचकर वह जहाँ तक दृष्टि फैला सकता है वहाँ तक अपनी ही अपना सब चीजें देखता है। अब तक उसे एक बहिन, दो भाई, मा, बाप, दो घोड़े, दस नौकरों के पालन की चिन्ता थी अब उसे हजारों गुने प्राणियों के पालने की चिन्ता होती है। यही अहंभाव का प्रसार है। दूसरे आचार्य इसी को अहंभाव का नाश कहते हैं। बात एक ही है फर्क सिर्फ कहने सुनने का है। रबड़ के गुब्बारे जिनमें हवा भरकर बच्चे खेलते हैं तुमने देखे होंगे। इनमें से एक लो और उसमें हवा भरो। जितनी हवा भरती जायगी उतना ही वह बढ़ता जायगा और फटने के अधिक निकट पहुँचता जायगा। कुछ ही देर में उसमें इतनी हवा भर जायगी कि वह गुब्बारे को फाड़कर अपने विराट रूप आकाश में भरे हुए महान वायुतत्व में मिल जाय। यही आत्म-दर्शन प्रणाली है। यह पुस्तक तुम्हें बतावेगी कि आत्म-स्वरूप को जानो और विस्तार करो। बस इतने से ही सूत्र में वह सब महान विज्ञान भरा हुआ है जिसके आधार पर विभिन्न आध्यात्म पथ बनाये गये हैं। वे सब फल इस सूत्र में बीज रूप से मौजूद हैं जो किसी भी सच्ची साधना से कहीं भी और किसी भी प्रकार हो सकते हैं।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को एक बार झाँकी कर लेने वाला साधक फिर पीछे नहीं लौट सकता। प्यास के मारे जिसके प्राण सूख रहे हैं ऐसा व्यक्ति सुरसरी का शीतल कूल छोड़कर क्या फिर उसी रेगिस्तान में लौटने की इच्छा करेगा, जहाँ प्यास के मारे क्षण-क्षण पर मृत्यु समान असहनीय वेदना अब तक अनुभव करता रहा है। भगवान कहते हैं—'यद्गत्वा न

निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम ।" जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता ऐसा मेरा धाम है। सचमुच वहाँ पहुँचने पर पीछे को पाँव पड़ते ही नहीं। योग भ्रष्ट होजाने का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। घर पहुँच जाने पर भी क्या कोई घर का रास्ता भूल सकता है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार और इन्द्रिय वासनायें मनुष्य के आनन्द में बाधक बनकर उसे दुख-जाल में डाले हुए हैं। पाप और बन्धन की यह मूल हैं। पतन इन्हीं के द्वारा होता है और क्रमशः नीच श्रेणी में इनके द्वारा जीव घसीटा जाता रहता है। विभिन्न आध्यात्म पन्थों की विराट साधनाऐं इन्हीं दुष्ट शत्रुओं को पराजित करने के चक्रव्यूह हैं। अर्जुन रूपी मन को इसी महाभारत में प्रवृत्त होने का भगवान का उपदेश है।

इस पुस्तक के अगले अध्यायों में आत्म-दर्शन के लिये जिन सरल साधनों को बताया गया है उनकी साधना करने से हम उस स्थान तक ऊँचे उठ सकते हैं जहाँ सांसारिक प्रवृत्तियों की पहुँच नहीं हो सकती। जब बुराई न रहेगी तो जो शेष रह जाय वह भलाई होगी। इस प्रकार आत्म-दर्शन का स्वाभाविक फल दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करना है। आत्म-स्वरूप को, अहं-भाव का आत्यन्तिक विस्तार होते होते रबड़ के थैले के समान बन्धन टूट जाते हैं और आत्मा परमात्मा में जा मिलता है। इस भावार्थ को जानकर कई व्यक्ति निराश होंगे और कहेंगे यह तो सन्यासियों का मार्ग है जो ईश्वर में लीन होना चाहते हैं या परमार्थ साधना करना चाहते हैं उनके लिये ही यह साधन उपयोगी हो सकता है। इसका लाभ केवल पारलौकिक है किन्तु हमारे जीवन का सारा कार्यक्रम इहलौकिक है। हमारा जो दैनिक कार्य-क्रम व्यवसाय, नौकरी, ज्ञान-सम्पादन, द्रव्य उपार्जन, मनो-

रंजन आदि है थोड़ा समय पारलौकिक कार्यों के लिये निकाल सकते हैं परन्तु अधिकांश जीवनचर्या हमारी सांसारिक कार्यों में निहित है । इसलिये अपने अधिकांश जीवन के कार्यक्रम में हम इसका क्या लाभ उठा सकेंगे ।

उपरोक्त शंका स्वाभाविक है, क्योंकि हमारी विचारधारा आज कुछ ऐसी उलझ गई है कि लौकिक और पारलौकिक स्वार्थों के दो विभाग करने पड़ते हैं। वास्तव में ऐसे कोई दो खण्ड नहीं हो सकते जो लौकिक है वही पारलौकिक है। दोनों एक दूसरे से इतने अधिक बँधे हुए हैं जैसे पेट और पीठ। फिर भी हम पूरी विचारधारा को उलट कर पुस्तक के कलेवर का ध्यान रखते हुए नये सिरे से समझाने की यहाँ आवश्यकता नहीं समझते। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि आत्म-दर्शन व्यवहारिक जीवन को सफल बनाने की सर्वश्रेष्ठ कला है। आत्मोन्नति के साथ ही सभी सांसारिक उन्नति रहती है। जिसके पास आत्मबल है उसके पास सब कुछ है और सारी सफलताएं उसके हाथ के नीचे हैं।

साधारण और स्वाभाविक योग का सारा रहस्य इसमें छिपा हुआ है कि आदमी आत्म-स्वरूप को जाने, अपने गौरव को पहचाने, अपने अधिकार की तलाश करे और अपने पिता की अतुलित सम्पत्ति पर अपना हक पेश करे। यह राजमार्ग है। सीधा सच्चा और बिना जोखों का है। यह मोटी बात हर किसी की समझ में आजानी चाहिये कि अपनी शक्ति और औजारों की कार्यक्षमता की जानकारी और अज्ञानता किसी भी काम की सफलता असफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उत्तम से उत्तम बुद्धि भी तब तक ठीक ठीक फैसला

नहीं कर सकती जब तक उसे वस्तुओं का स्वरूप ठीक तौर से न मालूम होजाय।

आध्यात्म शास्त्र कहता है कि—ऐ अविनाशी आत्माओ! तुम तुच्छ नहीं, महान् हो। तुम्हें किसी अशक्तता का अनुभव करना या कुछ माँगना नहीं है। तुम अनन्त शक्तिशाली हो, तुम्हारे बल का पारावार नहीं! जिन साधनों को लेकर तुम अवतीर्ण हुए हो, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं। इनकी शक्ति अनेक इन्द्रवज्रों से अधिक है। सफलता और आनन्द तुम्हारा जन्मजात अधिकार है। उठो! अपने को, अपने हथियारों को और काम को भली प्रकार पहचानो और बुद्धिपूर्वक जुट जाओ। फिर देखें कैसे वह चीजें नहीं मिलतीं, जिन्हें तुम चाहते हो। तुम कल्पवृक्ष हो, कामधेनु हो और सफलता की साक्षात मूर्ति हो। भय और निराशा का कण भी तुम्हारी पवित्र रचना में नहीं लगाया गया है। यह लो, अपना अधिकार सँभालो।

यह पुस्तक बतावेगी कि तुम शरीर नहीं हो, जीव नहीं हो वरन् ईश्वर हो। शरीर की, मन की जितनी भी महान शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारे औजार हैं। इन्द्रियों के तुम गुलाम नहीं हो, आदतें तुम्हें मजबूर नहीं कर सकतीं, मानसिक विकारों का कोई अस्तित्व नहीं, अपने को और अपने वस्त्रों को ठीक तरह से पहचान लो। फिर जीव का स्वाभाविक धर्म उनका ठीक उपयोग करने लगेगा। भ्रमरहित और तत्वदर्शी बुद्धि से हर काम कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। यही कर्म कौशल योग है। गीता कहती है—'योगः कर्मसु कौशलम्।' तुम ऐसे ही कुशल योगी बनो। लौकिक और पारलौकिक कार्यों में तुम अपना उचित स्थान प्राप्त करते हुए सफलता प्राप्त कर सको और निरन्तर विकास की ओर बढ़ते चलो, यही इस साधन का उद्देश्य है।

ईश्वर तुम्हें इसी पथ पर प्रेरित करें।

———

दूसरा अध्याय

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्योः न मेधया न बहु श्रुतेन"

शास्त्र कहता है कि—यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं होती।

प्रथम अध्याय को समझ लेने के बाद तुम्हें इच्छा हुई होगी कि उस आत्मा का दर्शन करना चाहिए, जिसे देख लेने के बाद और कुछ देखना बाकी नहीं रह जाता। यह इच्छा स्वाभाविक है। शरीर और आत्मा का गठबन्धन कुछ ऐसा ही है, जिसमें ज़रा अधिक ध्यान से देखने पर वास्तविकता झलक जाती है। शरीर भौतिक स्थूल पदार्थों से बना हुआ है, किन्तु आत्मा सूक्ष्म है। पानी में तेल डालने पर वह ऊपर ही उठ आता है। लकड़ी के टुकड़े को तालाब में कितना ही नीचा पटको, वह ऊपर को ही आने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि तेल और लकड़ी के परमाणु पानी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। गरमी ऊपर को उठती है, अग्नि की लपटें ऊपर को ही उड़ेंगी। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और वायु का दबाव उसे रोक नहीं सकता है। आत्मा शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है, इसलिये वह इसमें बँधी हुई होते हुए भी इसमें पूरी तरह घुल मिल जाने की अपेक्षा ऊपर उठने की कोशिश करती रहती है। लोग कहते हैं कि इन्द्रियों के भोग हमें अपनी ओर खींचे रहते हैं, पर यह बात सत्य नहीं है। सत्य के दर्शन कर सकने के योग्य सुविधा और शिक्षा प्राप्त न होने पर झकमारकर अपनी आन्तरिक प्यास को बुझाने के लिये विषय भोगों की कीचड़ पीता है। यदि उसे एक बार भी आत्मानन्द का चस्का लग जाता तो दर-दर पर क्यों धक्के खाता फिरता? हम जानते हैं कि इन पंक्तियों को पढ़ते समय तुम्हारा चित्त वैसी

ही उत्सुकता और प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है, जैसी बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ परदेशी अपने घर कुटुम्ब के समाचार सुनने के लिये आतुर होता है। यह एक मजबूत प्रमाण है, जिससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की आन्तरिक इच्छा आत्म-स्वरूप देखने की बनी रहती है। शरीर में रहता हुआ भी वह उसमें घुल-मिल नहीं सकता वरन् उचक-उचक कर अपनी खोई हुई किसी चीज को तलाश करता है। बस, वह स्थान जहाँ भटकता है, यही है। उसे यह याद नहीं आती कि मैं क्या चीज ढूँढ़ रहा हूँ ? मेरा कुछ खोगया है, इसका अनुभव करता है। खोई हुई वस्तु के अभाव में दुःख पाता है, किन्तु माया-जाल के पर्दे से छिपी हुई चीज को नहीं जान पाता। चित्त बड़ा चञ्चल है, घड़ी भर भी एक जगह नहीं ठहरता। इसकी सब लोग शिकायत करते हैं, परन्तु कारण नहीं जानते कि मन इतना चञ्चल क्यों होरहा है ? वह अपनी खोई हुई वस्तु के लिये हाहाकार मचा रहा है। बारहसिङ्गा कोई अद्भुत गन्ध पाता है और उसके पास पहुँचने के लिये दिन रात चारों ओर दौड़ता रहता है। क्षण भर भी उसे विश्राम नहीं मिलता। यही हाल मन का है। यदि वह समझ जाय कि कस्तूरी मेरी नाभि में रखी हुई है तो वह कितना आनन्द प्राप्त कर सके और सारी चञ्चलता भूल जाय।

आत्म-दर्शन का मतलब अपनी सत्ता, शक्ति और साधनों का ठीक-ठीक स्वरूप अपने मानस-पटल पर इतनी गहराई के साथ अङ्कित कर लेना है कि वह दिन भर जीवन में कभी भी भुलाया न जा सके। तोता-रटन्त विद्या में तुम बहुत प्रवीण हो सकते हो। इस पुस्तक में जितना कुछ लिखा है, उससे दस गुना ज्ञान तुम सुना सकते हो, बड़े-बड़े तर्क उपस्थित कर सकते हो। शास्त्रीय बारीकियाँ निकाल सकते हो। परन्तु यह बातें आत्म-

मन्दिर के फाटक तक ही जाती हैं, इससे आगे इनकी गति नहीं है। रट्टू तोता पण्डित नहीं बन सकता। शास्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि 'यह आत्मा उपदेश, बुद्धि या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं हो सकता।' अब तक तुम इतना सुन चुके हो, जितना अधिकारी भेद के कारण आम लोगों को भ्रम में डाल देता है। आज हम तुम्हारे साथ कोई बहस करने उपस्थित नहीं हुए हैं। यदि तुम्हें यह विषय रुचिकर हो और आत्म-दर्शन की लालसा हो तो हमारे साथ चले आओ अन्यथा अपना मूल्यवान समय नष्ट मत करो।

आत्म-दर्शन की सीढ़ियों पर चढ़ने से पहले सर्वप्रथम समतल भूमि पर पहुँचना होगा। जहाँ आज तुम भटक रहे हो, वहाँ से लौट आओ और उस भूमि पर स्थित होजाओ, जिसे प्रवेश-द्वार कहते हैं। मानलो कि तुमने अपने अन्य सब ज्ञानों को भुला दिया है और नये सिरे से किसी पाठशाला में भर्ती होकर क, ख, ग, सीख रहे हो, इसमें अपमान मत समझो। तुम्हारा अब तक का ज्ञान झूँठा नहीं है। तुम उर्दू खूब पढ़े हो और यदि हिन्दी द्वारा भी लाभ प्राप्त करना चाहो तो एक दम उसका दर्शन-शास्त्र नहीं पढ़ने लगोगे वरन् वर्णमाला ही से आरम्भ करोगे। हम अपने आदरणीय और ज्ञानी जिज्ञासुओं की पीठ थपथपाते हुए दो कदम पीछे लौटने को कहते हैं, क्योंकि ऐसा करने से वे प्रथम सीढ़ी पर पाँव रख सकेंगे और आसानी एवं तीव्र गति से ऊपर चढ़ेंगे।

तुम्हें विचार करना चाहिये कि जब मैं कहता हूँ कि 'मैं' तब उसका क्या अभिप्राय होता है? पशु, पक्षी तथा अन्य अविकसित प्राणियों में यह 'मैं' की भावना नहीं होती। भौतिक सुख दुख का तो वे अनुभव करते हैं, किन्तु अपने बारे में कुछ

अधिक नहीं सोच सकते। गधा नहीं जानता कि मुझ पर किस कारण बोझा लादा जाता है? लादने वाले के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं किस प्रकार अन्याय का शिकार बनाया जारहा हूँ? वह अधिक बोझ लद जाने पर कष्ट का और हरी घास मिल जाने पर शान्ति का अनुभव करता है, पर हमारी तरह सोच नहीं सकता। इन जीवों में शरीर ही आत्म-स्वरूप है। क्रमशः अपना विकास करते-करते मनुष्य आगे बढ़ आया है। फिर भी कितने मनुष्य हैं, जो आत्म-स्वरूप को जानते हैं? तोते-रटन्त दूसरी बात है। लोग आत्म-ज्ञान की कुछ चर्चा को सुनकर उसे मस्तिष्क में रिकार्ड की तरह भर लेते हैं और समयानुसार उसमें से कुछ सुना देते हैं। ऐसे आदमियों की कमी नहीं, जो आत्मा के बारे में कुछ नहीं जानते। इनमें सोचने विचारने की शक्ति जग गई है। उनका संसार आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, लोभ, मोह आदि तक ही सीमित होता है। इन्हीं समस्याओं को सोचने समझने और हल करने लायक योग्यता उन्होंने प्राप्त की होती है। मूढ़ मनुष्य भद्दे भोगों से तृप्त होजाते हैं तो बुद्धिमान कहलाने वाले उनमें सुन्दरता लाने की कोशिश करते हैं। मजदूर को बैलगाड़ी में बैठकर जाना सौभाग्य प्रतीत होता है तो धनवान मोटर में बैठकर अपनी बुद्धिमानी पर प्रसन्न होता है। बात एक ही है। बुद्धि का जो विकास हुआ है, वह भोग-सामिग्री को उन्नत और आकर्षक बनाने में हुआ है। समाज के अधिकांश सभ्य नागरिकों के लिए वास्तव में शरीर ही आत्म-स्वरूप है। धार्मिक रूढ़ियों का पालन मन-सन्तोष के लिए वे करते रहते हैं, पर उससे आत्म-ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं। लड़की के विवाह में दहेज देना पुण्य कर्म समझा जाता है, पर ऐसे पुण्य कर्मों से ही कौन मनुष्य अपने उद्देश्य तक पहुँच सका है? यज्ञ, तप, ज्ञान, सांसारिक धर्म में

लोक-जीवन और समाज-व्यवस्था के लिए इन्हें करते रहना धर्म है, पर इससे आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मा इतनी सूक्ष्म है कि रुपया, पैसा, पूजा-पत्री, दान, मान आदि बाहरी वस्तुएँ उस तक नहीं पहुँच सकतीं। फिर इनके द्वारा उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

आत्मा के पास तक पहुँचने के साधन जो हमारे पास मौजूद हैं, वह चित्त, अन्तःकरण, मन, बुद्धि आदि ही हैं। आत्म-दर्शन की साधना इन्हीं के द्वारा हो सकती है। शरीर में सर्वत्र आत्मा व्याप्त है। कोई विशेष स्थान इसके लिये नियुक्त नहीं है, जिस पर किसी साधन विशेष का उपयोग किया जाय। जिस प्रकार आत्मा की आराधना करने में मन, बुद्धि आदि ही समर्थ हो सकते हैं, उसी प्रकार उनके स्थान और स्वरूप का दर्शन मानस-लोक में प्रवेश करने से हो सकता है। मानसिक लोक भी स्थूल लोक की तरह ही है। उसमें इसी बाहरी दुनियाँ की ही अधिकांश छाया है। अभी हम कलकत्ते का विचार कर रहे हैं, अभी हिमालय पहाड़ की सैर करने लगे। अभी जिनका विचार किया था, वह स्थूल कलकत्ता और हिमालय नहीं थे वरन् मानस-लोक में स्थित उनकी छाया थी, यह छाया असत्य नहीं होती। पदार्थों का सच्चा अस्तित्व हुए बिना कोई कल्पना नहीं हो सकती। इस मानस-लोक को भ्रम नहीं समझना चाहिए। यही वह सूक्ष्म चेतना है, जिसकी सहायता से दुनियाँ के सारे काम चल रहे हैं। एक दूकानदार जिस परदेश से माल खरीदने जाता है, वह पहले उस परदेश की यात्रा मानस-लोक में करता है और मार्ग की कठिनाइयों को देख लेता है, तदनुसार उन्हें दूर करने का प्रबन्ध करता है। उच्च आध्यात्मिक चेतनाएँ मानस-लोक से आती हैं। किसी के मन में क्या भाव उपज रहे हैं, कौन हमारे प्रति क्या सोचता है,

कौन सम्बन्धी कैसी दशा में है आदि बातों को मानस-लोक में प्रवेश करके हम अस्सी फीसदी ठीक-ठीक जान लेते हैं। यह तो साधारण लोगों के काम-काज की मोटी-मोटी बातें हुई। लोग भविष्य को जान लेते हैं, भूतकाल का हाल बताते हैं, परोक्ष ज्ञान रखते हैं, ईश्वरीय सब चेतनाएें मानस-लोक में ही आती हैं। उन्हें ग्रहण करके जीभ द्वारा प्रगट कर दिया जाता है। यदि यह मानसिक इन्द्रियाँ न हुई होतीं तो मनुष्य बिलकुल वैसा ही चलता फिरता पुतला हुआ होता जैसे यान्त्रिक मनुष्य विज्ञान की सहायता से योरोप और अमेरिका में बनाये गये हैं। दस सेर मिट्टी और बीस सेर पानी के बने हुए इस पुतले की आत्मा और सूक्ष्म जगत से सम्बन्ध जोड़ने वाली चेतना यह मानस-लोक ही समझनी चाहिए।

अब हमारा प्रयत्न यह होगा कि तुम मानसिक लोक में प्रवेश कर चलो और वहाँ बुद्धि के दिव्य चक्षुओं द्वारा आत्मा का दर्शन और अनुभव करो। यही एक मार्ग दुनियाँ के सम्पूर्ण साधकों का है। तत्व दर्शन मानस-लोक में प्रवेश करके बुद्धि की सहायता द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त आज तक किसी ने कोई और मार्ग अभी तक नहीं ढूँढ़ पाया है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ही योग की उच्च सीढ़ियाँ हैं। आध्यात्मिक साधक-योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम अनेक प्रकार की क्रियाऐं करते हैं। हठ योगी नेति, धोति, वस्ति आदि करते हैं अन्य मतावलम्बियों की साधनाऐं अन्य प्रकार की हैं। यह सब शारीरिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए हैं। शरीर को स्वस्थ रखना इसलिए जरूरी समझा जाता है कि मानसिक अभ्यासों में गड़बड़ न पड़े। हम अपने साधकों को स्वस्थ शरीर रखने का उपदेश करते हैं। आज की परिस्थितियों में उन उग्र शारी-

रिक व्यायामों की नकल करने में हमें कोई विशेष लाभ प्रतीत नहीं होता। धुँए से भरे हुए शहरी वायुमण्डल में रहने वाले व्यक्ति को उग्र प्राणायाम करने की शिक्षा देना उसके साथ अन्याय करना है। फल और मेवे खाकर पर्वत प्रदेशीय नदियों का अमृत जल पीने वाले और इन्द्रिय भोगों से दूर रहने वाले स्वस्थ साधक हठ योग के जिन कठोर व्यायामों को करते हैं उनकी नकल करने के लिए यदि तुमसे कहें तो हम एक प्रकार का पाप करेंगे और बिना वास्तविकता को जाने उन शारीरिक तपों में उलझने वाले साधक, उस मेढ़की का उदाहरण बनेंगे जो घोड़ों को नाल ठुकवाते देखकर आपे से बाहर होगई थी और अपने पैर में भी वैसी ही कील ठुकवा कर मर गई थी। स्वस्थ रहने के साधारण नियमों को सब लोग जानते हैं। उन्हें ही कठोरता पूर्वक पालन करना चाहिए। यदि कोई रोग हो तो किसी कुशल चिकित्सक से इलाज कराना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र पुस्तक हम भी प्रकाशित करेंगे। पर इस साधन के लिए किसी ऐसी शारीरिक योग्यता की आवश्यकता नहीं है जिसका साधन चिर-काल में पूरा हो सकता हो। स्वस्थ रहो, प्रसन्न रहो, बस इतना ही काफी है।

अच्छा चलो, अब साधना की ओर चलें। किसी एकान्त स्थान की तलाश करो। जहाँ किसी प्रकार के भय या आकर्षण की वस्तुयें न हों यह स्थान उत्तम है। यद्यपि पूर्ण एकान्त के आदर्श स्थान सदैव प्राप्त नहीं होते तथापि जहाँ तक हो सके निर्जन और कोलाहल से रहित स्थान तलाश करना चाहिए। इस कार्य के लिए नित नये स्थान बदलने की अपेक्षा एक जगह नियत कर लेना अच्छा है। वन, पर्वत, नदी तट आदि की सुविधा न हो तो एक छोटा-सा स्वच्छ कमरा इसके लिए चुन लो जहाँ

तुम्हारा मन जुट जावे। इस तरह मत बैठो जिससे नाड़ियों पर तनाव पड़े। अकड़कर छाती या गरदन फुलाकर हाथों को मरोड़कर या पाँवों को ऐंठकर एक दूसरे के ऊपर चढ़ाते हुए बैठने के लिए हम नहीं कहेंगे क्योंकि इन अवस्थाओं में शरीर को कष्ट होगा और वह अपनी पीड़ा की पुकार बार-बार मन तक पहुँचाकर उसे उचटने के लिए विवश करेगा। शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना चाहिए, जिससे समस्त मांस-पेशियाँ ढीली हो जावें और देह का प्रत्येक कण शिथिलता, शान्ति और विश्राम का अनुभव करे। इस प्रकार बैठने के लिए आराम कुर्सी बहुत अच्छी चीज है। चारपाई पर लेट जाने से भी काम चल जाता है पर शिर को कुछ ऊँचा रखना जरूरी है। मसन्द, कपड़ों की गठरी या दीवार का सहारा लेकर भी बैठा जा सकता है। बैठने का कोई भी तरीका क्यों न हो उसमें यही बात ध्यान रखने की है कि शरीर रुई की गठरी जैसा ढीला पड़ जावे उसे अपनी साल सँभाल में जरा सा भी प्रयत्न न करना पड़े। उस दशा में यदि समाधि चेतना आने लगे तब शरीर के इधर उधर लुढ़क पड़ने का भय न रहे। इस प्रकार बैठकर कुछ शरीर को विश्राम और मन को शान्ति का अनुभव करने दो। प्रारम्भिक समय में यह अभ्यास विशेष प्रयत्न के साथ करना पड़ता है। पीछे अभ्यास बढ़ जाने पर तो साधक जब चाहे तब शान्ति का अनुभव कर लेता है चाहे वह कहीं भी और कैसी भी दशा में क्यों न हो। सावधान रहिए, यह दशा तुमने स्वप्न देखने या कल्पना जगत में चाहे जहाँ उड़ जाने के लिए पैदा नहीं की है और न इसलिए कि इन्द्रिय विकार इस एकान्त वन में कबड्डी खेलने लगें। ध्यान रखिये अपनी इस ध्यानावस्था को भी काबू में रखना और इच्छानुवर्ती बनाना है। यह अवस्था इच्छा पूर्वक किसी निश्चित

कार्य पर लगाने के लिये पैदा की गई है। आगे चलकर यह ध्यानावस्था चेतना का एक अङ्ग बन जाती है और फिर सदैव स्वयमेव बनी रहती है। तब उसे ध्यान द्वारा उत्पन्न नहीं करना पड़ता वरन् भय, दुख, क्लेश, आशङ्का, चिन्ता आदि के समय में बिना यत्न के ही वह जाग पड़ती है और साधक अनायास ही उन दुख क्लेशों से बच जाता है।

हाँ, तो उपरोक्त ध्यानावस्था में होकर अपने सम्पूर्ण विचारों को 'मैं' के ऊपर इकट्ठा करो। किसी बाहर वस्तु या किसी आदमी के सम्बन्ध में बिलकुल विचार मत करो। भावना करनी चाहिए कि मेरी आत्मा यथार्थ में एक स्वतन्त्र पदार्थ है। वह अनन्त बल वाला अविनाशी और अखण्ड है। वह एक सूर्य है, जिसके इर्द-गिर्द हमारा संसार बराबर घूम रहा है, जैसे सूर्य के चारों ओर नक्षत्र आदि घूमते हैं। अपने को केन्द्र मानना चाहिये सूर्य जैसा प्रकाशवान। इस भावना को बराबर लगातार अपने मानस लोक में प्रयत्न की कल्पना और रचना शक्ति के सहारे, मानस लोक के आकाश में अपनी आत्मा को सूर्यरूप मानते हुए केन्द्र की तरह स्थित होजाओ और आत्मा से अतिरिक्त अन्य सब चीजों को नक्षत्र तुल्य घूमती हुई देखो। वे मुझसे बँधी हुई हैं, मैं उनसे बँधा नहीं हूँ। अपनी शक्ति से मैं उनका संचालन कर रहा हूँ। फिर भी वे वस्तुएँ मेरी या मैं नहीं हूँ, लगातार परिश्रम के बाद कुछ दिनों में यह चेतना दृढ़ हो जायगी।

वह भावना झूँठी या काल्पनिक नहीं है। विश्व का हरएक जड़ चेतन परमाणु बराबर घूम रहा है। सूर्य के आस-पास पृथ्वी आदि ग्रह घूमते हैं और समस्त मण्डल एक अदृश्य चेतना की परिक्रमा करता रहता है। हृदयगत चेतना के कारण रक्त हमारे शरीर की परिक्रमा करता रहता है। शब्द, शक्ति, विचार या अन्य

प्रकार के भौतिक परिमाणुओं का धर्म परिक्रमा करते हुए आगे बढ़ना है। हमारे आस-पास की प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म अपना काम कर रहा है। हमसे भी जिन परिमाणुओं का काम पड़ेगा, वह स्वभावतः हमारी परिक्रमा करेंगे, क्योंकि हम चेतना के केन्द्र हैं। इस बिलकुल स्वाभाविक चेतना को भली भांति हृदयंगम कर लेने से तुम्हें अपने अन्दर एक विचित्र परिवर्तन मालूम पड़ेगा। ऐसा अनुभव होता हुआ प्रतीत होगा कि मैं चेतना का केन्द्र हूँ और मेरा संसार, मुझसे सम्बन्धित समस्त भौतिक पदार्थ मेरे इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। मकान, कपड़े, जेवर, धन-दौलत आदि मुझसे सम्बन्धित हैं, पर वह मुझमें व्याप्त नहीं, बिलकुल अलग हैं। अपने को चेतना का केन्द्र समझने वाला, अपने को माया से सम्बन्धित मानता है, पर पानी में पड़े हुए कमल के पत्ते की तरह कुछ ऊँचा उठा रहता है, उसमें डूब नहीं जाता। जब वह अपने को तुच्छ, अशक्त और बँधे हुए जीव की अपेक्षा चेतन-सत्ता और प्रकाश-केन्द्र स्वीकार करता है तो उसे उसी के अनुसार परिधान भी मिलते हैं। बच्चा जब बड़ा होजाता है तो उसके छोटे कपड़े उतार दिये जाते हैं। अपने को हीन, नीच और शरीराभिमानी तुच्छ जीव जब तक समझोगे, तब तक उसी के लायक कपड़े मिलेंगे। लालच, भोगेच्छा, कामेच्छा, चाटुकता, स्वार्थपरता आदि गुण तुम्हें पहनने पड़ेंगे, पर जब अपने स्वरूप को महानतम अनुभव करोगे, तब यह कपड़े निरर्थक हो जाँयगे। छोटा बच्चा कपड़े पर टट्टी कर देने में कुछ बुराई नहीं समझता, किन्तु बड़ा होने पर वह ऐसा करने से घृणा करता है। कदाचित बीमारी की दशा में वह ऐसा कर भी बैठे तो अपने को बड़ा धिक्कारता है और शर्मिन्दा होता है। नीच विचार, हीन भावनाएँ, पाशविक इच्छाएँ और क्षुद्र स्वार्थपरता ऐसे ही गुण

हैं, जिन्हें देखकर आत्म-चेतना में विकसित हुआ मनुष्य घृणा करता है। उसे अपने आप वह गुण मिल गये होते हैं, जो उसके इस शरीर के लिए उपयुक्त हैं। उदारता, विशाल हृदयता, दया, सहानुभूति, सचाई प्रभृति गुण ही तब उसके लायक ठीक वस्त्र होते हैं। बड़ा होते ही मेंढ़क की लम्बी पूँछ जैसे स्वयमेव झड़ पड़ती है, वैसे ही दुर्गुण उससे विदा होने लगते हैं और वयोवृद्ध हाथी के दाँतों की तरह सद्‌गुण क्रमशः बढ़ते रहते हैं।

अपने को प्रकाश-केन्द्र अनुभव करने के लिए तर्कों से काम न चल सकेगा, क्योंकि हमारी तर्क बहुत ही लंगड़ी और अन्धी हैं। तर्कों के सहारे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि वास्तव में वही हमारा पिता है, जिसे पिताजी कहकर सम्बोधन करते हैं। इसलिए योगाभ्यास के दैवी अनुष्ठान में इस अपाहिज तर्क का बहिष्कार करना पड़ता है और धारणा, ध्यान एवं समाधि को अपनाना पड़ता है। आत्म-स्वरूप के अनुभव में यह तर्क-वितर्क बाधक न बनें, कुछ देर के लिये विदा करदो। विश्वास रखो, इन पंक्तियों का लेखक तुम्हें भ्रम में फँसाने या कोई गलत हानिकारक साधन बताने नहीं जारहा है। उसका निश्चित विश्वास है और वह शपथपूर्वक तुमसे कहता है कि हे मेरे ऊपर विश्वास रखने वाले साधक! यह ठीक रास्ता है, मेरा देखा हुआ है। आओ, पीछे पीछे चले आओ, तुम्हें कहीं धकेला नहीं जायगा वरन् एक ठीक स्थान पर पहुँचा दिया जायगा। साधन की विधि बार-बार ध्याना-वस्थित होकर मानस-लोक में प्रवेश करो। अपने को सूर्य समान प्रकाशवान सत्ता के रूप में देखो और अपना संसार अपने आस-पास घूमता हुआ अनुभव करो। इस अभ्यास को लगातार जारी रखो और इसे हृदय-पट पर गहरा अङ्कित करलो तथा इस श्रेणी पर पहुँच जाओ कि जब तुम कहो कि 'मैं', तब उसके साथ ही

चित्त में चेतना, विचार, शक्ति और प्रतिभा सहित केन्द्रस्वरूप चित्र भी जाग उठे। संसार पर जब दृष्टि डालो तो वह आत्म-सूर्य की परिक्रमा करता नजर आवे।

उपरोक्त आत्म-स्वरूप दर्शन के साधन में शीघ्रता होने के लिए तुम्हें हम एक और विधि बताते हैं। ध्यान की दशा में होकर अपने ही नाम को बार-बार, धीरे-धीरे, गम्भीरता और इच्छा-पूर्वक जपते जाओ। इस अभ्यास से मन आत्म-स्वरूप पर एकाग्र होने लगता है। लार्ड टेनिसन ने अपनी आत्म-शक्ति को इसी उपाय से जगाया था। वे लिखते हैं—'इसी उपाय से हमने कुछ आत्म-ज्ञान प्राप्त किया है। अपनी वास्तविकता और अमरता को जाना है एवं अपनी चेतना के मूल स्रोत का अनुभव कर लिया है।'

कुछ जिज्ञासु आत्म-स्वरूप का ध्यान करते समय 'मैं' को शरीर के साथ जोड़कर गलत धारणा कर लेते हैं और साधन करने में गड़बड़ा जाते हैं। इस विघ्न को दूर कर देना आवश्यक है अन्यथा इस पंचभूत शरीर की आत्मा बैठने पर तो एक अत्यन्त नीच कोटि का थोड़ा सा फल प्राप्त हो सकेगा।

इस विघ्न को दूर करने के लिये ध्यानावस्थित होकर ऐसी भावना करो कि मैं शरीर से पृथक हूँ। उसका उपयोग वस्त्र या औजार की तरह करता हूँ। शरीर को वैसा ही समझने की कोशिश करो, जैसा पहनने के कपड़े को समझते हो। अनुभव करो कि शरीर को त्यागकर भी तुम्हारा 'मैं' बना रह सकता है। शरीर को त्यागकर और ऊँचे स्थान से उसे देखने की कल्पना करो। शरीर को एक पोले घोंसले के रूप में देखो, जिसमें से आसानी के साथ तुम बाहर निकल सकते हो। ऐसा अनुभव करो कि इस खोखले को मैं ही स्वस्थ, बलवान, दृढ़ और गतिवान

बनाये हुए हूँ, उस पर शासन करता हूँ और इच्छानुसार काम में लाता हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, वह मेरा उपकरण मात्र है। उसमें एक मकान की भांति विश्राम करता हूँ। देह भौतिक परमाणुओं की बनी हुई है और उन अणुओं को मैंने ही इच्छित वेश के लिये आकर्षित कर लिया है। ध्यान में शरीर को पूरी तरह भुला दो और 'मैं' पर समस्त भावना एकत्रित करो, तब तुम्हें मालूम पड़ेगा कि आत्मा शरीर से भिन्न है। यह अनुभव कर लेने के बाद जब तुम 'मेरा शरीर' कहोगे तो पूर्व की भांति वरन् एक नये ही अर्थ में कहोगे।

उपरोक्त भावना का तात्पर्य यह नहीं है कि तुम शरीर की उपेक्षा करने लगो। ऐसा करना तो अनर्थ होगा। शरीर को आत्मा का पवित्र मन्दिर समझो, उसकी सब प्रकार से रक्षा करना और सुदृढ़ बनाये रखना तुम्हारा परम पावन कर्तव्य है।

शरीर से प्रथकत्व की भावना जब तक साधारण रहती है, तब तक तो साधक का मनोरञ्जन होता है। पर जैसे ही वह दृढ़ता को प्राप्त होती है, वैसे ही मृत्यु होजाने जैसा अनुभव होने लगता है और वह वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं, जिन्हें हम साधना के स्थान पर बैठकर खुली आँखों से नहीं देख सकते। सूक्ष्म जगत की कुछ धुन्धली झाँकी उस समय होती है और कोई परोक्ष बातें एवं दैवी दृश्य दिखाई देने लगते हैं। इस स्थिति में नये साधक डर जाते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है। केवल साधन में कुछ शीघ्रता होगई है और पूर्व संस्कारों के कारण इस चेतना में जरा सा झटका लगते ही वह अचानक जाग पड़ी है। इस श्रेणी तक पहुँचने में जब क्रमशः और धीरे-धीरे अभ्यास होता है तो कुछ आश्चर्य नहीं होता। साधना की उच्च श्रेणी पर पहुँचकर अभ्यासी को वह योग्यता प्राप्त होजाती

है कि सचमुच शरीर के दायरे से ऊपर उठ जाय और उन वस्तुओं को देखने लगे, जो इस शरीर में रहते हुए नहीं देखी जा सकती थीं। उस दशा में अभ्यासी शरीर से सम्बन्ध तोड़ नहीं देता। जैसे कोई आदमी कमरे की खिड़की में से गर्दन बाहर निकालकर देखता है कि बाहर कहाँ क्या होता है और फिर इच्छानुसार सिर को भीतर कर लेता है, यही बात इस दशा में भी होती है। नये दीक्षितों को हम अभी यह अनुभव जगाने की सम्मति नहीं देते, ऐसा करना क्रम का उल्लंघन करना होगा। समयानुसार हम परोक्ष दर्शन की भी शिक्षा देंगे। इस समय तो इसका थोड़ा सा उल्लेख इसलिये करना पड़ा है कि कदाचित् किसी को स्वयमेव ऐसी चेतना आने लगे तो उसे घबराना या डरना न चाहिये।

जीव के अमर होने के सिद्धान्त को अधिकांश लोग विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें यह जानना चाहिये कि यह बात कपोल कल्पित नहीं है वरन् स्वयं जीव द्वारा अनुभव में आकर सिद्ध हो सकती है। तुम ध्यानावस्थित होकर ऐसी कल्पना करो कि 'हम' मर गये। कहने सुनने में यह बात साधारण सी मालूम पड़ती है। जो साधक पिछले पृष्ठों में दी हुई लम्बी-चौड़ी भावनाओं का अभ्यास करते हैं, उनके लिये यह छोटी कल्पना कुछ कठिन प्रतीत न होनी चाहिये, पर जब तुम इसे करने बैठोगे तो यही कहोगे कि यह नहीं हो सकती। ऐसी कल्पना करना असम्भव है। तुम शरीर के मर जाने की कल्पना कर सकते हो, पर साथ ही यह पता रहेगा कि तुम्हारा 'मैं' नहीं मरा है वरन् वह दूर खड़ा हुआ मृत शरीर को देख रहा है। इस प्रकार पता चलेगा कि किसी भी प्रकार अपने 'मैं' के मर जाने की कल्पना नहीं कर सकते। विचार बुद्धि हठ करती है कि आत्मा

मर नहीं सकती। उसे जीव के अमरत्व पर पूर्ण विश्वास है और चाहे जितना प्रयत्न किया जाय वह अपने अनुभव के, त्याग के लिए उद्यत नहीं होगी। कोई आघात लगकर या क्लोरोफार्म सूँघ कर बेहोश होजाने पर भी 'मैं' जागता रहता है। यदि ऐसा न होता तो उसे जागने पर यह ज्ञान कैसे होता कि मैं इतनी देर बेहोश पड़ा रहा हूँ, बेहोशी और निद्रा की कल्पना हो सकती है पर जब 'मैं' की मृत्यु का प्रश्न आता है तो चारों ओर अस्वीकृत की ही प्रतिध्वनि गूँजती है। कितने हर्ष की बात है कि जीव अपने अमर और अखण्ड होने का प्रमाण अपने ही अन्दर दृढ़तापूर्वक धारण किये हुए है।

अपने को अमर, अखण्ड, अविनाशी और भौतिक संवेदनाओं से परे समझना, आत्म-स्वरूप दर्शन का आवश्यक अङ्ग है। इसकी अनुभूति हुए बिना सच्चा आत्म-विश्वास नहीं होता और जीव बराबर अपनी चिरसेवित तुच्छता की भूमिका में फिसल पड़ता है, जिससे अभ्यास का सारा प्रयत्न गुड़ गोबर होजाता है। इसलिये एकाग्रता पूर्वक अच्छी तरह अनुभव करो कि मैं अविनाशी हूँ। अच्छी तरह इसे अनुभव में लाये बिना आगे मत बढ़ो। जब आगे बढ़ने लगो तब भी कभी-कभी लौटकर अपने इस स्वरूप का फिर परीक्षण करलो। यह भावना आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार में बड़ी सहायता देगी। आगे वह परीक्षण बताये जाते हैं, जिनके द्वारा अपने "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवच। नित्यः सर्वगतस्थाणुरचलोऽयं सनातनः।" का अनुभव कर सको।

ध्यानावस्था में आत्म-स्वरूप को देह से अलग करो और क्रमशः उसे आकाश, हवा, अग्नि, पानी, पृथ्वी की परीक्षा में से निकलते हुए देखो। कल्पना करो कि मेरी देह की बाधा हट

गई है और अब मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ। अब तुम आकाश में इच्छा पूर्वक ऊँचे नीचे पखेरुओं की तरह जहाँ चाहें उड़ सकते हो। हवा के वेग से गति में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती और न उसके द्वारा जीव कुछ सूखता ही है। कल्पना करो कि बड़ी भारी आग की ज्वाला जल रही है और तुम उसमें होकर मजे में निकल जाते हो और कुछ भी कष्ट नहीं होता है। भला जीव को आग कैसे जला सकती है। उसकी गर्मी की पहुँच तो सिर्फ शरीर तक ही थी। इसी प्रकार पानी और पृथ्वी के भीतर भी जीव की पहुँच वैसे ही है जैसे आकाश में। अर्थात् कोई भी तत्त्व तुम्हें छू नहीं सकता और तुम्हारी स्वतन्त्रता में तनिक भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

इस भावना से आत्मा का स्थान शरीर से ऊँचा ही नहीं होता बल्कि उसको प्रभावित करने वाले पंच-तत्वों से भी ऊपर उठता है। जीव देखने लगता है कि मैं देह ही नहीं वरन् उसके निर्माता पंच-तत्वों से भी ऊपर हूँ। अनुभव की इस चेतना में प्रवेश करते ही तुम्हें प्रतीत होगा कि मेरा नया जन्म हुआ है। नवीन शक्ति का संचार अपने अन्दर होता हुआ प्रतीत होगा और ऐसा भी न होगा कि पुराने वस्त्रों की तरह भय का आवरण ऊपर से हटा दिया गया है। अब ऐसा विश्वास हो जायगा कि जिन वस्तुओं से मैं अब तक डरा करता था वे मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकतीं। शरीर तक ही उनकी गति है। सो ज्ञान और इच्छा शक्ति द्वारा शरीर से भी इन भयों को दूर हटाया जा सकता है।

बार-बार समझ लो। प्राथमिक शिक्षा का बीज मन्त्र 'मैं' है। इसका पूरा अनुभव करने के बाद ही आध्यात्म उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकोगे। तुम्हें अनुभव करना होगा मेरी

सत्ता शरीर से भिन्न है ! अपने को सूर्य के समान शक्ति का एक महान् केन्द्र देखना होगा जिसके इर्द-गिर्द अपना संसार घूम रहा है। इससे नवीन शक्ति आवेगी, जिसे तुम्हारे साथी प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। तुम स्वयं स्वीकार करोगे अब मैं सुदृढ़ हूँ और जीवन की आँधियाँ मुझे विचलित नहीं कर सकतीं। केवल इतना ही नहीं इससे भी आगे है। अपनी उन्नति के आत्मिक विकास के साथ उस योग्यता को प्राप्त करता हुआ भी देखोगे जिसके द्वारा जीवन की आँधियों को शान्त किया जाता है और उन पर शासन किया जाता है।

आत्म-ज्ञानी दुनियाँ के भारी कष्टों की दशा में भी हँसता रहेगा और अपनी भुजा उठाकर कष्टों से कहेगा—'जाओ, चले जाओ, जिस अन्धकार से तुम उत्पन्न हुए हो उसी में विलीन होजाओ'। धन्य है वह, जिसने 'मैं' के बीज मन्त्र को सिद्ध कर लिया है।

जिज्ञासुओ ! प्रथम शिक्षा का अभ्यास करने के लिये अब हमसे अलग होजाओ। अपनी मन्द-गति देखो तो उतावले मत होओ। आगे चलने में यदि पाँव पीछे फिसल पड़ें तो निराश मत होओ। आगे चलकर तुम्हें दूना लाभ मिल जायगा। सिद्धि और सफलता तुम्हारे लिये है. वह तो प्राप्त होनी ही है। बढ़ो, शान्ति के साथ थोड़ा प्रयत्न करो।

इस पाठ के मन्त्र

—मैं प्रतिभा और शक्ति का केन्द्र हूँ।
—मैं विचार और शक्ति का केन्द्र हूँ।
—मेरा संसार मेरे चारों ओर घूम रहा है।
—मैं शरीर से भिन्न हूँ।

—मैं अविनाशी हूँ, मेरा नाश नहीं हो सकता।
—मैं अखण्ड हूँ, मेरी क्षति नहीं हो सकती।

तीसरा अध्याय

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥गीता ३।४२॥

शरीर से इन्द्रियाँ परे (सूक्ष्म) हैं। इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे आत्मा है। आत्मा तक पहुँचने के लिये क्रमशः सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ेंगी। पिछले अध्याय में आत्मा के शरीर और इन्द्रियों से ऊपर अनुभव करने के साधन बताये गये थे। इस अध्याय में मन का स्वरूप समझने और उससे ऊपर आत्मा को सिद्ध करने का हमारा प्रयत्न होगा। प्राचीन दर्शनशास्त्र मन और बुद्धि को अलग अलग गिनता है। आधुनिक दर्शन-शास्त्र मन को ही सर्वोच्च श्रेणी की बुद्धि मानता है। इस बहस में आपको कोई खास दिलचस्पी लेने की जरूरत नहीं है। दोनों का मतभेद इतना बारीक है कि मोटी निगाह से वह कुछ भी प्रतीत नहीं होता दोनों ही मन तथा बुद्धि को मानते हैं। दोनों स्थूल मन से बुद्धि को सूक्ष्म मानते हैं। हम पाठकों की सुविधा के लिए बुद्धि को मन की ही उन्नत कोटि में गिन लेंगे और आगे का अभ्यास आरम्भ करायेंगे।

अब तक तुमने यह पहचाना है कि हमारे भौतिक आवरण क्या हैं? अब इस पाठ में यह बताने का प्रयत्न किया जायगा कि असली अहम 'मैं' से कितना परे है। वह सूक्ष्म परीक्षण है। भौतिक आवरणों का अनुभव जितनी आसानी से हो जाता है उतना सूक्ष्म शरीर में से अपने वास्तविक अहम् को प्रथक कर

सकना आसान नहीं है। इसके लिये कुछ अधिक योग्यता और ऊँची चेतना होनी चाहिये। भौतिक पदार्थों से प्रथकता का अनुभव होजाने पर भी अहम् के साथ लिपटा हुआ सूक्ष्म शरीर गड़बड़ में डाल देता है। कई लोग मन को ही आत्मा समझने लगे हैं। आगे हम मन के रूप की व्याख्या न करेंगे पर ऐसे उपाय बतावेंगे जिससे स्थूल शरीर और भद्दे मैं के टुकड़े २ कर सको और उनमें से तलाश कर सको कि इनमें 'अहम्' कौनसा है? और उनमें भिन्न वस्तुयें कौनसी हैं? इस विश्लेषण को तुम मन के द्वारा कर सकते हो और उसे इसके लिये मजबूर कर सकते हो कि इन प्रश्नों का सही उत्तर दे।

शरीर और आत्मा के बीच की चेतना मन है। साधकों की सुविधा के लिए मन को तीन भागों में बाँटा जाता है। मन के पहिले भाग का नाम 'प्रवृत्त मानस' है। यह पशु पक्षी आदि अविकसित जीवों और मनुष्यों में समान रूप से पाया जाता है। गुप्त मन और सुप्त मानस भी उसे कहते हैं। शरीर के स्वाभाविक जीवन बनाये रखना इसी के हाथ में है। हमारी जानकारी के बिना भी शरीर का व्यापार अपने आप चलता रहता है। भोजन की पाचन क्रिय, रक्त का घूमना, क्रमशः रस, रक्त, माँस, मेदा, अस्थि, वीर्य का बनना, मल त्याग, श्वाँस, प्रश्वांस, पलकें खुलना बन्द होना आदि कार्य अपने आप होते रहते हैं। आदतें पड़ जाने का कार्य इसी मन के द्वारा होता है। यह मन देर में किसी बात को ग्रहण करता है पर जिसे ग्रहण कर लेता है उसे आसानी से छोड़ता नहीं। हमारे पूर्वजों के अनुभव और हमारे वे अनुभव जो पाशविक जीवन से उठकर इस अवस्था में आने तक प्राप्त हुये हैं, इसी में जमा हैं। मनुष्य एक अल्प बुद्धि साधारण प्राणी था उस समय की ईर्षा, द्वेष, युद्ध प्रवृति, स्वार्थ, चिन्ता आदि

साधारण वृत्तियां इसी के एक कौने में पड़ी रहती हैं। पिछले अनेक जन्मों के नीच स्वभाव जिन्हें प्रबल प्रयत्नों द्वारा काटा नहीं गया है इसी विभाग में इकट्ठे रहते हैं। यह एक अद्भुत अजायब-घर है जिसमें सभी तरह की चीजें जमा हैं। कुछ अच्छी और बहुमूल्य हैं तो कुछ सड़ी-गली, भद्दी तथा भयानक भी हैं। जंगली मनुष्यों, पशुओं तथा दुष्टों में जो लोभ, हिन्सा, क्रूरता, आवेश, अधीरता आदि वृत्तियाँ होती हैं वह भी सूक्ष्म रूपों से इसमें जमा हैं! यह बात दूसरी है कि कहीं उच्च मन द्वारा पूरी तरह से वे वश में रखी जाती हैं कहीं कम। राजस और तामसी लालसायें इसी मन से सम्बन्ध रखती हैं। इन्द्रियों के भोग, घमण्ड, क्रोध, भूख, प्यास, मैथुनेच्छा, निद्रा आदि 'प्रवृत्त मानस' के रूप हैं।

प्रवृत्त मन से ऊपर दूसरा मन है, जिसे 'प्रबुद्ध मानस' कहना चाहिए। इस पुस्तक को पढ़ते समय तुम उसी मन का उपयोग कर रहे हो। इसका काम सोचना, विचारना, विवेचना करना, तुलना करना, कल्पना, तर्क तथा निर्णय आदि करना है। हाजिर जवाबी, बुद्धिमत्ता, चतुरता, अनुभव, स्थिति का परीक्षण यह सब प्रबुद्ध मन द्वारा होते हैं। याद रखो जैसे प्रवृत्त मानस 'अहम्' नहीं है उसी प्रकार प्रबुद्ध मानस भी वह नहीं है। कुछ देर विचार करके तुम इसे आसानी के साथ 'अहम्' से अलग कर सकते हो। इस छोटी-सी पुस्तक में बुद्धि के गुण धर्मों का विवेचन नहीं हो सकता, जिन्हें इस विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो वे मनोविज्ञान के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का मनन करें। इस समय इतना काफी है कि तुम अनुभव करलो कि प्रबुद्ध मन भी एक आच्छादन है न कि 'अहम्'।

तीसरे सर्वोच्च मन का नाम 'आध्यात्म मानस' है। इसका

विकास अधिकांश लोगों में नहीं हुआ होता। मेरा विचार है कि तुम में यह कुछ-कुछ विकसने लगा है क्योंकि इस पुस्तक को मन लगाकर पढ़ रहे हो और इसमें वर्णित विषय की ओर आकर्षित हो रहे हो। मन के इस विभाग को हम लोग उच्चतम विभाग मानते हैं और आध्यात्मिकता, आत्म-प्रेरणा, ईश्वरीय सन्देश, प्रतिभा आदि जानते हैं। उच्च भावनाएं मन के इसी भाग में उत्पन्न होकर चेतना में गति करती हैं। प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा, न्याय, निष्ठा, उदारता, धर्म प्रवृत्ति, सत्य, पवित्रता, आत्मीयता आदि सब भावनाएं इसी मन से आती हैं। ईश्वरीय भक्ति इसी मन में उदय होती है। गूढ़ तत्वों का रहस्य इसी के द्वारा जाना जाता है। इस पाठ में जिस विशुद्ध 'अहम्' की अनुभूति के शिक्षण का हम प्रयत्न कर रहे हैं वह इसी 'आध्यात्म मानस' के चेतना क्षेत्र से प्राप्त हो सकेगी। परन्तु भूलिए मत, मन का यह सर्वोच्च भाग भी केवल उपकरण ही है। 'अहम' यह भी नहीं है।

तुम्हें यह भ्रम न करना चाहिये कि हम किसी मन की निन्दा और किसी की स्तुति करते हैं और भार या बाधक सिद्ध करते हैं। बात ऐसी नहीं है। सच सोचते तो यह हैं कि मन की सहायता से ही तुम अपनी वास्तविक सत्ता और आत्म-ज्ञान के निकट पहुँचे हो और आगे भी बहुत दूर तक उसकी सहायता से अपना मानसिक विकास कर सकोगे इसलिये मन का प्रत्येक विभाग अपने स्थान पर बहुत अच्छा है बशर्ते कि उसका ठीक उपयोग किया जाय।

साधारण लोग अब तक मन के नीच भागों को ही उपयोग में लाते हैं, उनके मानस-लोक में अभी ऐसे असंख्य गुप्त प्रकट स्थान हैं जिनकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकी है, अत-

एवं मन को कोसने के स्थान पर आचार्य लोग दीक्षितों को सदैव यह उपदेश देते हैं कि उस गुप्त शक्ति को त्याज्य न ठहराकर ठीक प्रकार से क्रियाशील बनाओ।

यह शिक्षा जो तुम्हें दी जा रही है मन के द्वारा ही क्रिया रूप में आ सकती है और उसी के द्वारा समझने, धारण करने एवं सफल होने का कार्य हो सकता है, इसलिये हम सीधे तुम्हारे मन से बात कह रहे हैं, उसी से निवेदन कर रहे हैं कि महोदय! अपनी उच्च कक्षा से आने वाले ज्ञान को ग्रहण कीजिये और उसके लिए अपना द्वार खोल दीजिये। हम आपकी बुद्धि से प्रार्थना करते हैं-भगवती! अपना ध्यान उस महातत्व की ओर लगाइये और सत्य के अनुभवी, अपने आध्यात्मिक मन द्वारा आने वाली दैवी चेतनाओं में कम बाधा दीजिये।

अभ्यास

सुख और शान्तिपूर्वक स्थित होकर आदर के साथ उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए बैठो जो उच्च मन की उच्च कक्षा द्वारा तुम्हें प्राप्त होने को है।

पिछले पाठ में तुमने समझा था कि 'मैं' शरीर से परे कोई मानसिक चीज है, जिसमें विचार, भावना और वृत्तियाँ भरी हुई हैं। अब इससे आगे बढ़ना होगा और अनुभव करना होगा कि यह विचारणीय वस्तुऐं आत्मा से भिन्न हैं।

विचार करो कि द्वेष, क्रोध, ममता, ईर्षा, घृणा, उन्नति आदि की असंख्य भावनाऐं मस्तिष्क में आती रहती हैं। उनमें से हरएक को तुम अलग कर सकते हो, जाँच कर सकते हो, विचार कर सकते हो, खण्डित कर सकते हो, उनके उदय, वेग और अन्त को भी जान सकते हो। कुछ दिन के अभ्यास से अपने

विचारों की परीक्षा करने का ऐसा अभ्यास प्राप्त कर लोगे मानो अपने किसी दूसरे मित्र की भावनाओं के उदय, वेग और अन्त का परीक्षण कर रहे हो। यह सब भावनाऐं तुम्हारे चिन्तन केन्द्र में मिलेंगी। उनके स्वरूप का अनुभव कर सकते हो और उन्हें टटोल तथा हिला डुलाकर देख सकते हो। अनुभव करो कि यह भावनाऐं तुम नहीं हो। यह केवल ऐसी वस्तुऐं हैं जिन्हें तुम मन के थैले में लादे फिरते हो। अब उन्हें त्यागकर आत्म-स्वरूप की कल्पना करो। ऐसी भावना सरलता पूर्वक कर सकोगे।

उन मानसिक वस्तुओं को पृथक करके तुम उन पर विचार कर रहे हो, इसी से सिद्ध होता है कि वह वस्तुऐं तुम से पृथक हैं। पृथकत्व की भावना अभ्यास द्वारा थोड़े समय बाद लगातार बढ़ती जायगी और शीघ्र ही एक महान आकार में प्रकट होगी।

यह मत सोचिए कि हम इस शिक्षा द्वारा यह बता रहे हैं कि भावनाऐं कैसे त्याग करें। यदि तुम इसी शिक्षा की सहायता से दुर्वृत्तियों को त्याग सकने की क्षमता प्राप्त कर सको तो बहुत प्रसन्नता की बात है। पर हमारा यह मन्तव्य नहीं है, हम इस समय तो यही सलाह देना चाहते हैं कि अपनी बुरी भली सब दुर्वृत्तियों को जहाँ की तहाँ रहने दो और ऐसा अनुभव करो-'अहम्' इन सबसे परे एवं स्वतन्त्र है, जब तुम 'अहम्' के महान् स्वरूप का अनुभव कर लो, तब लौट आओ और उन वृत्तियों को जो अब तक तुम्हें अपनी चाकर बनाए हुए थीं, मालिक की भाँति उचित उपयोग में लाओ अपनी वृत्तियों को अहम् से परे के अनुभव में पटकते समय डरो मत। अभ्यास समाप्त करने के बाद फिर वापिस लौट आओगे और उनमें से अच्छी वृत्तियों को इच्छानुसार काम में ला सकोगे। अमुक वृत्ति ने मुझे बहुत अधिक बाँध लिया है उससे कैसे छूट सकता हूँ, इस

प्रकार की चिन्ता मत करो, यह चीजें बाहर की हैं। इसके बन्धन में बँधने से पहले 'अहम्' था और बाद में भी बना रहेगा, जब अपने को पृथक करके उनका परीक्षण कर सकते हो तो क्या कारण है कि एक ही झटके में उठाकर अलग नहीं फेंक सकोगे? ध्यान देने योग्य बात यह है कि तुम इस बात का अनुभव और विश्वास कर रहे हो कि 'मैं' बुद्धि और इन शक्तियों का उपभोग कर रहा हूँ। यही 'मैं' जो शक्तियों का उपकरण मानता है, मन का स्वामी 'अहम्' है।

उच्च आध्यात्मिक मन से आई प्रेरणा भी इसी प्रकार अध्ययन की जा सकती है। इसलिये उन्हें भी अहम् से भिन्न माना जायगा। आप शंका करेंगे कि उच्च आध्यात्मिक प्रेरणा का उपयोग उस प्रकार नहीं किया जा सकता, इसलिये सम्भव है वे प्रेरणाऐं 'अहम' वस्तुऐं हों? आज हमें तुमसे इस विषय पर कोई विवाद नहीं करना है क्योंकि तुम आध्यात्मिक मन की थोड़ी बहुत जानकारी को छोड़कर अभी इसके सम्बन्ध में और कुछ नहीं जानते, साधारण मन के मुकाबिले में वह मन ईश्वरीय भूमिका के समान है। जिन तत्वदर्शियों ने अहम्-ज्योति का साक्षात्कार किया है और जो विकास की उच्च अत्युच्च सीमा तक पहुँच गये हैं वे योगी बतलाते हैं कि अहम आध्यात्मिक मन से ऊपर रहता है और उसको अपनी ज्योति से प्रकाशित करता है जैसे पानी पर पड़ता हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य जैसा ही मालूम पड़ता है। परन्तु सिद्धों का अनुभव है कि वह केवल धुँधली तसवीर मात्र है। चमकता हुआ आध्यात्मिक मन यदि प्रकाश बिम्ब है तो 'अहम' अखण्ड ज्योति है उस उच्च मन में होता हुआ आत्मिक प्रकाश पाता है इसी से वह इतना प्रकाशमय प्रतीत होता है। ऐसी दशा में उसे ही 'अहम्' मान लेने का भ्रम

होजाता है, असल में वह भी 'अहम' है नहीं। 'अहम्' उस
प्रकाश-मणि के समान है, जो स्वयं सदैव समान रूप से प्रकाशित
रहती है, किन्तु कपड़ों से ढँकी रहने के कारण अपना प्रकाश बाहर
लाने में असमर्थ होती है। यह कपड़े जैसे-जैसे हटते जाते हैं,
वैसे ही वैसे प्रकाश अधिक स्पष्ट होता जाता है। फिर भी कपड़ों
के हटने या उनके और अधिक मात्रा में पड़ जाने के कारण मणि
के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस चेतना में लेजाने का इतना ही अभिप्राय है कि 'अहम्'
की सर्वोच्च भावना में जागकर तुम एक समुन्नत आत्मा बन जाओ
और अपने उपकरणों का ठीक उपयोग करने लगो। जो पुराने,
अनावश्यक, रद्दी और हानिकर परिधान हैं, उन्हें उतारकर फेंक
सको और नवीन एवं अद्भुत क्रियाशील औजारों को उठाकर उनके
द्वारा अपने सामने के कार्यों को सुन्दरता और सुगमता के साथ
पूरा कर सको, अपने को सफल एवं विजयी घोषित कर सको।

इतना अभ्यास और अनुभव कर लेने के बाद तुम पूछोगे
कि अब क्या बचा, जिसे 'अहम्' से भिन्न न गिनें? इसके उत्तर
में हमें कहना है कि 'विशुद्ध आत्मा।' इसका प्रमाण यह है कि
अपने 'अहम्' को शरीर, मन आदि अपनी सब वस्तुओं से पृथक
करने का प्रयत्न करो। छोटी चीजों से लेकर उससे सूक्ष्म, उससे
सूक्ष्म, उससे परे से परे वस्तुओं को छोड़ते-छोड़ते विशुद्ध आत्मा
तक पहुँच जाओगे। क्या अब इससे भी परे कुछ हो सकता है?
कुछ नहीं। विचार करने वाला, परीक्षा करने वाला और परीक्षा
की वस्तु दोनों एक वस्तु नहीं हो सकते। सूर्य अपनी किरणों
द्वारा अपने ही ऊपर नहीं चमक सकता। तुम विचार और जाँच
की वस्तु नहीं हो। फिर भी तुम्हारी चेतना कहती है 'मैं हूँ', यही
आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। अपनी कल्पना शक्ति, स्वत-
न्त्रता शक्ति लेकर इस 'अहम्' को पृथक करने का प्रयत्न कर

लीजिये, परन्तु फिर भी हार जाओगे और उससे आगे नहीं बढ़ सकोगे। अपने को मरा हुआ नहीं मान सकते। यही विशुद्ध आत्मा अविनाशी, अविकारी, ईश्वरीय समुद्र की बिन्दु, परमात्मा की किरण है।

हे साधक! अपनी आत्मा का अनुभव प्राप्त करने में सफल होओ और समझो कि तुम सोते हुए देवता हो। अपने भीतर प्रकृति की महान सत्ता धारण किए हुए हो, जो कार्यरूप में परिणित होने के लिए हाथ बाँधकर खड़ी हुई आज्ञा माँग रही है। इस स्थान तक पहुँचने में बहुत कुछ समय लगेगा। पहली मञ्जिल तक पहुँचने में भी कुछ देर लगेगी, परन्तु आध्यात्मिक विकास की चेतना में प्रवेश करते ही आँखें खुल जाँयगी। आगे का प्रत्येक कदम साफ होता जायगा और प्रकाश प्रकट होता जायगा।

इस पुस्तक के अगले अध्याय में हम यह बतावेंगे कि आपकी विशुद्ध आत्मा भी स्वतन्त्र नहीं वरन् परमात्मा का ही एक अंश है और उसी में किस प्रकार ओत-प्रोत होरही है? परन्तु उस ज्ञान को ग्रहण करने से पूर्व तुम्हें अपने भीतर 'अहम' की चेतना लगा लेनी पड़ेगी। हमारी इस शिक्षा को शब्द-शब्द और केवल शब्द समझकर उपेक्षित मत करो, इस निर्बल व्याख्या को तुच्छ समझकर तिरस्कृत मत करो, यह एक बहुत सच्ची बात बताई जारही है। तुम्हारी आत्मा इन पंक्तियों को पढ़ते समय आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होने की अभिलाषा कर रही है। उसका नेतृत्व ग्रहण करो और आगे को कदम उठाओ।

अब तक बताई हुई मानसिक कसरतों का अभ्यास कर लेने के बाद 'अहम्' से भिन्न पदार्थों का तुम्हें पूरा निश्चय हो जायगा। इस सत्य को ग्रहण कर लेने के बाद अपने को मन और

वृत्तियों का स्वामी अनुभव करोगे और तब उन सब चीज़ों
को पूरे बल और प्रभाव के साथ काम में लाने की सामर्थ्य प्राप्त
कर लोगे।

इस महान तत्व की व्याख्या में हमारे यह विचार और
शब्दावली हीन, शिथिल और सस्ते प्रतीत होते होंगे। वह विषय
अनिर्वचनीय है। वाणी की गति वहाँ तक नहीं है। गुड़ का
मिठास जबानी जमा खर्च द्वारा नहीं समझाया जा सकता। हमारा
प्रयत्न केवल इतना ही है कि तुम ध्यान और दिलचस्पी की तरफ
झुक पड़ो और इन कुछ मानसिक कसरतों को करने के अभ्यास
में लग जाओ। ऐसा करने से मन वास्तविकता का प्रमाण पाता
जायगा और आत्म-स्वरूप में दृढ़ता होती जायगी। जब तक स्वयं
अनुभव न होजाय, तब तक ज्ञान, ज्ञान नहीं है। एक बार जब
तुम्हें उस सत्य के दर्शन हो जाँयगे तो वह फिर दृष्टि से ओझल
नहीं हो सकेगा और कोई वाद-विवाद उस पर अविश्वास नहीं
करा सकेगा।

अब तुम्हें अपने को दास नहीं, स्वामी मानना पड़ेगा।
तुम शासक हो और मन आज्ञा-पालक। मन द्वारा जो अत्याचार
अब तक तुम्हारे ऊपर होरहे थे, उन सबको फड़फड़ाकर फेंक दो
और अपने को उनसे मुक्त हुआ समझो। तुम्हें आज राज्य-
सिंहासन सौंपा जारहा है, अपने को राजा अनुभव करो। दृढ़ता-
पूर्वक आज्ञा दो कि स्वभाव, विचार, सङ्कल्प, बुद्धि, कामनाएँ
समस्त कर्मचारी शासन को स्वीकार करें और नये सन्धि-पत्र पर
दस्तखत करें कि हम बफादार नौकर की तरह अपने राजा की
आज्ञा मानेंगे और राज्य-प्रबन्ध को सर्वोच्च एवं सुन्दरतम बनाने
में रत्ती भर भी प्रमाद न करेंगे।

लोग समझते हैं कि मन ने हमें ऐसी स्थिति में डाल दिया
है कि हमारी वृत्तियाँ हमें बुरी तरह काँटों में घसीटे फिरती हैं

और तरह-तरह से त्रास देकर दुखी बनाती हैं। साधक इन दुखों से छुटकारा पा जावेंगे, क्योंकि वह उन सब उद्गमों से परिचित हैं और यहाँ काबू पाने की योग्यता सम्पादन कर चुके हैं। किसी बड़े मिल में सैकड़ों घोड़ों की ताकत से चलने वाला इञ्जन और उसके द्वारा संचालित होने वाली सैकड़ों मशीनें तथा उनके असंख्य कल पुर्जे किसी अनाड़ी को डरा देंगे। वह उस घर में घुसते ही हड़बड़ा जायगा, किसी पुर्जे में धोती फँस गई तो उसे छुटाने में असमर्थ होगा और अज्ञान के कारण बड़ा त्रास पावेगा। किन्तु वह इंजीनियर जो मशीनों के पुर्जे २ से परिचित है और इंजन चलाने के सारे सिद्धान्त को भली भांति समझा हुआ है, उस कारखाने में घुसते हुए तनिक भी न घबरावेगा और गर्व के साथ उन दैत्याकार यन्त्रों पर शासन करता रहेगा, जैसा एक महावत हाथी पर और सपेरा भयंकर विषधरों पर करता है। उसे इतने बड़े यन्त्रालय का उत्तरदायित्व लेते हुए भय नहीं, अभिमान होगा। वह हर्ष और प्रसन्नतापूर्वक शाम को मिल मालिक को हिसाब देगा, बढ़िया माल की इतनी बड़ी राशि उसने थोड़े समय में ही तैयार करदी है। उसकी फूली हुई छाती पर से सफलता का गर्व मानों टपक पड़ रहा है। जिसने अपने 'अहम्' और वृत्तियों का ठीक ठीक स्वरूप और सम्बन्ध जान लिया है, वह ऐसा ही कुशल इंजीनियर—यन्त्र-संचालक है। अधिक दिनों का अभ्यास और भी अद्भुत शक्ति देता है। जाग्रत मन ही नहीं, उस समय प्रवृत्त मन, गुप्त मानस भी शिक्षित होगया होता है और वह जो आज्ञा प्राप्त करता है उसे पूरा करने के लिये चुपचाप तब भी काम किया करता है जब हम दूसरे कामों में लगे होते हैं या सोये होते हैं। गुप्त मन जब उन कार्यों को पूरा करके सामने रखता है, तब नया साधक चौंकता है कि यह अदृष्ट सहायता है, यह अलौकिक करामात है। परन्तु योगी उन्हें समझाता है कि यह तुम्हारी

अपनी अपरिचित योग्यता है इससे असंख्य गुनी प्रतिभा तो अभी तुम में सोई पड़ी है।

सन्तोष और धैर्य धारण करो। कार्य कठिन है, पर इसके द्वारा जो पुरस्कार मिलता है उसका लाभ बड़ा भारी है। यदि वर्षों के कठिन अभ्यास और मनन द्वारा भी तुम अपने पद, सत्ता, महत्व, गौरव, शक्ति की चेतना प्राप्त कर सको तब भी वह करना ही चाहिये। यदि तुम इन विचारों में हमसे सहमत हो तो केवल पढ़कर ही सन्तुष्ट मत होजाओ। अध्ययन करो, मनन करो, आशा करो, साहस करो और सावधानी तथा गम्भीरता के साथ इस साधन-पथ की ओर चल पड़ो।

इस पाठ का बीज मन्त्र

—'मैं' सत्ता हूँ। मन मेरे प्रकट होने का उपकरण है।

—'मैं' मन से भिन्न हूँ। उसकी सत्ता पर आश्रित नहीं हूँ।

—'मैं' मन का सेवक नहीं, शासक हूँ।

—'मैं' बुद्धि, स्वभाव, इच्छा और अन्य समस्त मानसिक उपकरणों को अपने से अलग कर सकता हूँ। तब जो कुछ शेष रह जाता है, वह 'मैं' हूँ।

—'मैं' अजर अमर, अविकारी और एक रस हूँ।

—'मैं हूँ'—

चौथा अध्याय

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

'संसार में जितना भी कुछ है वह सब ईश्वर से ओत-प्रोत है।

पिछले अध्यायों में आत्म-स्वरूप और उसके आवरणों से जिज्ञासुओं को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बताने का प्रयत्न

किया जायगा। अब तक जिज्ञासु 'अहम्' का जो रूप समझ सके हैं वास्तव में वह उससे कहीं अधिक है। विश्वव्यापी आत्मा परमात्मा, महत्तत्व, परमेश्वर का ही वह अंश है। तत्वतः उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

तुम्हें अब इस तरह अनुभव करना चाहिये कि 'मैं' अब तक अपने को जितना समझता हूँ उससे कई गुना बड़ा हूँ। 'अहम्' की सीमा समस्त ब्रह्माण्डों के छोर तक पहुँचती है। वह परमात्म शक्ति की सत्ता में समाया हुआ है और उसी से इस प्रकार पोषण ले रहा है जैसे गर्भस्थ बालक अपनी माता के शरीर से। वह परमात्मा का निज तत्व है। तुम्हें आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करना होगा और क्रमशः अपनी अहन्ता को बढ़ाकर अत्यन्त महान कर देने को अभ्यास में लाना होगा। तब उस चेतना में जग सकोगे जहाँ पहुँच कर योग के आचार्य कहते हैं 'सोऽहम्'।

आइये, अब इसी अभ्यास की यात्रा आरम्भ करें। अपने चारों ओर दूर तक नजर फैलाओ और अन्तर नेत्रों से जितनी दूरी तक के पदार्थों को देख सकते हो देखो, प्रतीत होगा कि एक महान विश्व चारों ओर बहुत दूर,बहुत दूर तक फैला हुआ है। यह विश्व केवल ऐसा ही नहीं है जैसा मोटे तौर पर समझा जाता है वरन् यह एक चेतना का समुद्र है। प्रत्येक परमाणु आकाश एवं ईथर तत्व में बराबर गति करता हुआ आगे को बह रहा है। शरीर के तत्व हर घड़ी बदल रहे हैं। आज जो रासायनिक पदार्थ एक बनस्पति में है, वह कल भोजन द्वारा हमारे शरीर में पहुँचेगा और परसों मल रूप में निकलकर अन्य जीवों के शरीर का अङ्ग बन जायगा। डाक्टर बताते हैं कि शारीरिक कोष हर घड़ी बदल रहे हैं, पुराने नष्ट होजाते हैं और उनके स्थान पर नये आजाते हैं। यद्यपि देखने में शरीर ज्यों का त्यों रहता है, पर कुछ ही

समय में वह बिलकुल बदल जाता है और पुराने शरीर का एक कण भी बाक़ी नहीं बचता। वायु, जल और भोजन द्वारा नवीन पदार्थ शरीर में प्रवेश करते हैं और श्वास-क्रिया तथा मल-त्याग के रूप में बाहर निकल जाते हैं। भौतिक पदार्थ बराबर अपनी धारा में बह रहे हैं। नदी-तल में पड़े हुए कछुए के ऊपर होकर नवीन जलधारा बहती रहती है, तथापि वह केवल इतना ही अनुभव करता है कि पानी मुझे घेरे हुए है और मैं पानी में पड़ा हुआ हूँ। हम लोग भी उस निरन्तर बहने वाली प्रकृति-धारा से भली भांति परिचित नहीं होते, तथापि वह पल भर भी ठहरे बिना बराबर गति करती रहती है। यह मनुष्य शरीर तक ही सीमित नहीं वरन् अन्य जीवधारियों, बनस्पतियों और जिन्हें हम जड़ मानते हैं, उन सब पदार्थों में होती हुई आगे बढ़ती रहती है। हर चीज हर घड़ी बदल रही है। कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय, इस प्रवाह की एक बूँद को क्षण भर भी रोककर नहीं रखा जा सकता, यह भौतिक सत्य, आध्यात्मिक सत्य भी है। फकीर गाते हैं—'यह दुनियाँ आनी जानी है।'

भौतिक द्रव्य प्रवाह को तुम समझ गये होगे। यही बात मानसिक चेतनाओं की है। विचारधाराएँ, शब्दावलियाँ, सङ्कल्प आदि का प्रवाह भी ठीक इसी प्रकार जारी है। जो बातें एक सोचता है, वही बात दूसरे के मन में उठने लगती है। दुराचार के अड्डों का वातावरण ऐसा घृणित होता है कि वहाँ जाते-जाते नये आदमी का दम घुटने लगता है। शब्दधारा अब वैज्ञानिक यन्त्रों के वश में आगई है। रेडियो, बेतार का तार शब्द लहरों का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मस्तिष्क में आने-जाने वाले विचारों के अब फोटो लिये जाने लगे हैं, जिससे यह पता चल जाता है कि अमुक आदमी किन विचारों को ग्रहण कर रहा है और कैसे विचार छोड़ रहा है? बादलों की तरह विचार-प्रवाह आकाश में

मडराता रहता है और लोगों की आकर्षण शक्ति द्वारा खींचा व फेंका जा सकता है। यह विज्ञान बड़ा महत्वपूर्ण और विस्तृत है, इस छोटी पुस्तक में उसका वर्णन कठिन है।

मन के तीनों अङ्ग—प्रवृत्त मानस, प्रबुद्ध मानस, आध्यात्मिक मानस भी अपने स्वतन्त्र प्रवाह रखते हैं अर्थात यों समझना चाहिए कि 'नित्यः सर्वगतः स्थाणु रचलोऽयं सनातनः।' आत्मा को छोड़कर शेष सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक परिमाणु गतिशील हैं। यह सब वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थानों को चलती रहती हैं। जिस प्रकार शरीर के पुराने तत्व आगे बढ़ते और नये आते रहते हैं, उसी प्रकार मानसिक पदार्थों के बारे में भी समझना चाहिए। उस दिन आपका निश्चय था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा, आज विषय-भोगों से नहीं अघाते। उस दिन निश्चय था अमुक व्यक्ति की जान लेकर अपना बदला चुकाऊँगा, आज उनके मित्र बने हुए हैं। उस दिन रोरहे थे कि किसी भी प्रकार धन कमाना चाहिए, आज सब कुछ त्यागकर सन्यासी होरहे हैं। ऐसे असंख्य परिवर्तन होते रहते हैं। क्यों? इसलिए कि पुराने विचार चले गये और नये उनके स्थान पर आगये।

विश्व की दृश्य अदृश्य सभी वस्तुओं की गतिशीलता की धारणा, अनुभूति और निष्ठा यह विश्वास करा सकती है कि सम्पूर्ण संसार एक है। एकता के आधार पर उसका निर्माण है। मेरी अपनी वस्तु कुछ भी नहीं हैं या सम्पूर्ण वस्तुएँ मेरी हैं। तेज बहती हुई नदी के बीच धार में तुम्हें खड़ा कर दिया जाय और पूछा जाय कि पानी के कितने और कौन से परमाणु तुम्हारे हैं, तब क्या उत्तर दोगे? विचार करोगे कि पानी की धारा बराबर बह रही है। पानी के जो परमाणु इस समय मेरे शरीर को छूरहे है, पलक मारते-मारते बहुत दूर निकल जाँयगे। जल-धारा बराबर मुझसे छूकर चलती जारही है, तब या तो सम्पूर्ण जल-

धरा को अपनी बताऊँ या यह कहूँ कि मेरा कुछ भी नहीं है, यह विचार कर सकते हो।

संसार जीवन और शक्ति का समुद्र है। जीव इसमें होकर अपने विकास के लिये आगे को बढ़ता जाता है और अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ लेता और छोड़ता जाता है। प्रकृति मृतक नहीं है। जिसे हम भौतिक पदार्थ कहते हैं, उसके समस्त परिमाणु जीवित हैं। वे सब शक्ति से उत्तेजित होकर लहलहा, चल, सोच और जी रहे हैं। इसी जीवित समुद्र की सत्ता के कारण हम सबकी गतिविधि चल रही है। एक ही तालाब की हम सब मछलियाँ हैं। विश्वव्यापी शक्ति, चेतना और जीवन के परिमाणु विभिन्न अभिमानियों को झंकृत कर रहे हैं।

उपरोक्त अनुभूति आत्मा के उपकरणों और वस्त्रों के विस्तार के लिए काफी है। हमें सोचना चाहिए कि केवल यह सब शरीर मेरे हैं, जिनमें एक ही चेतना ओत-प्रोत होरही है। जिन भौतिक वस्तुओं तक तुम अपनापन सीमित रख रहे हो, अब उससे बहुत आगे बढ़ना होगा और सोचना होगा कि 'इस विश्व-सागर की इतनी बूँदें ही मेरी हैं, यह मानस भ्रम है। मैं इतना बड़ा वस्त्र पहने हुए हूँ, जिसके अञ्चल में समस्त संसार ढँका हुआ है।' यही आत्म-शरीर का विस्तार है। इसका अनुभव उस श्रेणी पर ले पहुँचेगा, जिस पर पहुँचा हुआ मनुष्य योगी कहलाता है। गीता कहती है—

सर्व भूतस्थ चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः॥

अर्थात्—सर्वव्यापी अनन्त चेतना में एकीभाव से स्थित रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सबमें सम भाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

अपने परिधान का विस्तार सम्पूर्ण जीवों के बाह्य स्वरूपों में आत्मीयता का अनुभव करता है। आत्माओं की आत्माओं में तो आत्मीयता है ही, ये सब आपस में परमात्म सत्ता द्वारा बंधे हुए हैं। अधिकारी आत्माएँ आपस में एक हैं। इस एकता के ईश्वर बिलकुल निकट हैं। यहाँ हम परमात्मा के दरबार में प्रवेश पाने योग्य और उनमें घुल-मिल जाने योग्य होते हैं, वह दशा अनिर्वचनीय है। इसी अनिर्वचनीय आनन्द की चेतना में प्रवेश करना समाधि है और उनका निश्चित परिणाम आजादी, स्वतन्त्रता, स्वराज्य, मुक्ति, मोक्ष होगा।

एकता अनुभव करने का अभ्यास

ध्यानावस्थित होकर भौतिक जीवन-प्रवाह पर चित्त जमाओ। अनुभव करो कि समस्त ब्रह्माण्डों में एक ही चेतना-शक्ति लहलहा रही है, उसी के विकार भेद से पंचतत्व निर्मित हुए हैं। इन्द्रियों द्वारा जो विभिन्न प्रकार के सुख दुखमय अनुभव होते हैं, वह तत्वों की विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाएँ हैं, जो इन्द्रियों के तारों से टकराकर विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की झङ्कारें उत्पन्न करती हैं। समस्त लोकों का मूलशक्ति तत्व एक ही है और उससे मैं भी उसी प्रकार गति प्राप्त कर रहा हूँ जैसे दूसरे। यह एक साझे का कम्बल है, जिसमें लिपटे हुए हम सब बालक बैठे हैं। इस सचाई को अच्छी तरह कल्पना में लाओ, बुद्धि का ठीक-ठीक अनुभव करने, समझने और हृदय को स्पष्टतः अनुभव करने दो।

स्थूल भौतिक पदार्थों की एकता का अनुभव करने के बाद सूक्ष्म मानसिक तत्व की एकता की कल्पना करो। वह भी भौतिक द्रव्य की भांति एक ही तत्व है। तुम्हारा मन महामन की एक बूँद है। जो ज्ञान और विचार मस्तिष्क में भरे हुए हो, वह मूलतः सार्वभौम ज्ञान और विचारधारा के कुछ परमाणु हैं और उन्हें

पुस्तकों द्वारा, गुरु-मुख द्वारा या ईथर-आकाश में बहने वाली धाराओं से प्राप्त किया होता है। यह भी एक अखण्ड गतिमान शक्ति है और उसका उपयोग वैसे ही कर रहे हो, जैसे नदी में पड़ा हुआ कछुआ अविचल गति से बहते हुए जल-परिमाणुओं में से कुछ को पीता है और फिर उसी में मूत्ररूप में त्याग देता है। इस सत्य को भी बराबर हृदयंगम करो और अच्छी तरह मानस-पटल पर अङ्कित करलो।

अपने शारीरिक और मानसिक वस्त्रों के विस्तार की भावना दृढ़ होते ही संसार तुम्हारा और तुम संसार के हो जाओगे। कोई वस्तु विरानी मालूम पड़ेगी। यह सब मेरा है या मेरा कुछ भी नहीं, इन दोनों वाक्यों में तब तुम्हें कुछ भी अन्तर न मालूम पड़ेगा। वस्त्रों से ऊपर आत्मा को देखो—यह नित्य, अखंड, अक्षर, अमर, अपरिवर्तनशील और एकरस है। वह जड़, अविकसित नीच प्राणियों, तारागणों, ग्रहों, समस्त ब्रह्मांडों को [illegible] आत्मीयता की दृष्टि से देखता है। विराना, घृणा करने योग्य, सताने के लायक या छाती से चिपटा रखने के लायक कोई पदार्थ वह नहीं देखता। अपने घर और पक्षियों के घोंसले के महत्व में उसे तनिक भी अन्तर नहीं दीखता। ऐसी उच्च कक्षा की प्राप्ति हो जाना केवल आध्यात्मिक उन्नति और ईश्वर के लिये ही नहीं वरन सांसारिक लाभ के लिये भी आवश्यक है। इस ऊँचे टीले पर खड़ा होकर आदमी संसार का सच्चा स्वरूप देख सकता है और यह जान सकता है कि किस स्थिति में किससे क्या बर्ताव करना चाहिए? उसे सद्गुणों का पुञ्ज, उचित क्रिया, कुशलता और सदाचार सीखने नहीं पड़ते वरन् केवल यही चीजें उसके पास शेष रह जाती हैं और वे बुरे स्वभाव न जानें कहाँ विलीन होजाते हैं, जो जीवन को दुखमय बनाये रहते हैं?

यहाँ पहुँचा हुआ स्थिति-प्रज्ञ देखता है कि सब अविनाशी आत्माएँ यद्यपि इस समय स्वतन्त्र, तेजस्वरूप और गतिवान प्रतीत

होती हैं, तथापि उनकी मूलसत्ता एक ही है, विभिन्न घटों में एक ही आकाश भरा हुआ है और अनेक जलपात्रों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब झलक रहा है। यद्यपि बालक का शरीर पृथक है, परन्तु उसका सारा भाग माता-पिता के अंश का ही बना है। आत्मा सत्य है, पर उसकी सत्यता परमेश्वर है। विशुद्ध और मुक्त आत्मा परमात्मा है, अन्त में आकार यहाँ एकता है। यही वह स्थिल है, जिस पर खड़े होकर जीव कहता है-- 'सोऽहमस्मि' अर्थात् वह परमात्मा मैं हूँ और उसे अनुभूति होजाती है कि संसार के सम्पूर्ण स्वरूपों के नीचे एक जीवन, एक बल, एक सत्ता, एक असलियत छिपी हुई है।

दीक्षितों को इस चेतना में जग जाने के लिये हम बार-बार अनुरोध करेंगे, क्योंकि 'मैं क्या हूँ ?' इस सत्यता का ज्ञान प्राप्त करना सच्चा ज्ञान है। जिसने सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका जीवन प्रेम, दया, सहानुभूति, सत्य और उदारता से परिपूर्ण होना चाहिये। कोरी कल्पना या पोथी-पाठ से क्या लाभ हो सकता है ? सच्ची सहानुभूति ही सच्चा ज्ञान है और सच्चे ज्ञान की कसौटी उसका जीवन व्यवहार में उतारना ही हो सकता है।

इस पाठ के मन्त्र—

१-मेरी भौतिक वस्तुएँ महान् भौतिक तत्व की एक क्षणिक झाँकी है। २-मेरी मानसिक वस्तुएँ अविच्छिन्न मानस तत्व का एक खण्ड है। ३-भौतिक और मानसिक तत्व निर्बाध गति से बह रहे हैं, इसलिये मेरी वस्तुओं का दायरा सीमित नहीं। समस्त ब्रह्माण्डों की वस्तुएँ मेरी हैं। ४-अविनाशी आत्मा परमात्मा का अंश है और अपने विशुद्ध रूप में वह परमात्मा ही है। ५-मैं विशुद्ध होगया हूँ, परमात्मा और आत्मा की एकता का अनुभव कर रहा हूँ। —'सोऽहमस्मि'—मैं वह हूँ।

मुद्रक—युग निर्माण प्रेस, मथुरा